द्रप्रसाद

सेठ गोविन्ददास

देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद

भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्र के ऐसे कर्णधार थे जिन्होंने लगभग आधी शताब्दी तक देश के नवजागरण और नव-निर्माण में अपनी अमूल्य सेवाएं प्रस्तुत कीं। देश को स्वतन्त्रता दिलाने में उन्होंने गांधीजी की छाया में एक महान सेनानी के रूप में कार्य किया। स्वतन्त्रता के पश्चात् वे कई महत्त्वपूर्ण पदों पर योग्यतापूर्वक कार्य करते हुए देश के प्रथम राष्ट्रपति बने और एक दशाब्दी तक इस पद से राष्ट्र का मार्गदर्शन किया।

'देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद' उनकी प्रामाणिक जीवनी है—लेखक हैं डॉ० (सेठ) गोविन्ददास। गोविन्ददासजी स्वतन्त्रता-संग्राम तथा शासनिक काल में राजेन्द्र बाबू के सम्पर्क में रहे हैं। प्रस्तुत जीवनी में उन्होंने राजेन्द्र बाबू का एक व्यक्ति और राजनीतिक नेता के रूप में विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है।

२·५०

देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद

सेठ गोविन्ददास

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

द्वितीय संस्करण, अप्रैल १९६८

DESHRATNA RAJENDRA PRASAD by Seth Govind Das
BIOGRAPHY
2·50
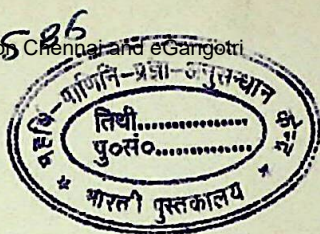
निवेदन

(पहले संस्करण से)

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजी के देहावसान के वाद प्रकाशक की ओर से मुझसे उनकी एक संक्षिप्त जीवनी लिखने को कहा गया। यह जीवनी लिखने के विचार में था कि समय गुज़रते देर न लगी और राष्ट्रनायक पं० जवाहरलाल नेहरू का देहावसान हो गया। अतः प्रकाशक महोदय ने पहले पंडितजी की जीवनी प्रकाशित करना उचित और आवश्यक समझा तथा सर्वप्रथम उसे ही लिख देने को मुझसे कहा। पं० जवाहरलाल नेहरू की जीवनी का काम तत्काल हाथ में लिया और वह हिन्द पॉकेट बुक्स में प्रकाशित भी हुई।

अव यह राजेन्द्र वाबू की जीवनी पाठकों के सामने आ रही है। राजेन्द्र वाबू जैसे विलक्षण व्यक्तित्वसम्पन्न पुरुष पर संक्षेप में इस तरह कुछ सीमित पृष्ठों में उनके समग्र जीवन-चरित्र को अंकित करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। लेकिन मूल रूप में उनके विचारों, व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन की कुछ झांकी पाठकों को मिल सके यही प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। मैं नहीं जानता इस दिशा में मैं कहां तक सफल हो सका हूं।

हां, राष्ट्र के एक उज्ज्वल रत्न, एक ऐसे व्यक्ति के प्रति जिसने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक देश के नव जागरण और नव निर्माण में अपना जीवन खपाया उसकी याद और स्मृति के रूप में यदि यह पुस्तक पाठकों का कुछ मार्गदर्शन कर सकी तो मेरा यह प्रयत्न सफल हुआ, ऐसा मानूंगा।

आज राजेन्द्र वाबू की ८१वीं वर्षगांठ पर मेरी यह श्रद्धांजलि पाठकों को भेंट करते हुए मुझे प्रसन्नता है।

नई दिल्ली
दि० ३ दिसंबर, १९६५

—गोविन्ददास

क्रम

जन्म, शिक्षा और बापू के कदमों में ··· ७

स्वन्तत्रता-आन्दोलन में ··· २७

प्रथम राष्ट्रपति ··· ४६

व्यक्तित्व ··· ५७

विदा ··· ७२

जीवन-दर्शन ··· ७८

सिंहावलोकन ··· ९०

महाप्रयाण ··· ९५

परिशिष्ट—१ ··· ९९

परिशिष्ट—२ ··· १०१

देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद
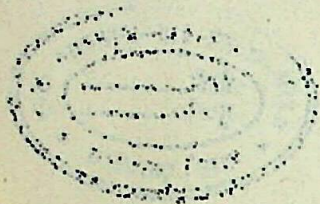
देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद

जन्म, शिक्षा और बापू के कदमों से

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ने बिहार जिला सारन के प्रसिद्ध जीरादेई नामक ग्राम में कायस्थ कुटुम्ब में श्री महादेवसहायजी के घर ३ दिसम्बर, सन् १८८४ में जन्म लिया। राजेन्द्र बाबू के दादा दो भाई थे। एक का नाम मिश्रीलाल था। इनके बड़े भाई थे श्री चौधुरलाल। मिश्रीलालजी के एक पुत्र हुए जिनका नाम महादेवसहाय था और जो राजेन्द्र बाबू के पिता थे। चौधुरलालजी के भी एक पुत्र थे जिनका नाम जगदेवसहाय था। मिश्रीलालजी की अल्पावस्था में मृत्यु हो जाने के कारण इनके पिता पर चौधुरलालजी का बड़ा ही ममत्व हो गया और उन्होंने अपने पुत्र जगदेवसहाय के साथ महादेवसहाय को भी पुत्रवत् पाला-पोसा और बड़ा किया। जगदेवसहाय बड़े थे और उनकी एकमात्र सन्तान एक पुत्री हुई जो बाद में जाती रही। महादेवसहाय के तीन लड़कियां और दो लड़के हुए। एक लड़की तो बचपन में ही स्वर्ग सिधार गई, दो शादी की हुई जिनमें बड़ी भागवती देवी थोड़े ही दिनों बाद विधवा हो गई, जो बाद में राजेन्द्र बाबू के साथ अपने मायके में ही रही और दूसरी बहन भी, जो दोनों भाइयों से बड़ी थी, बिना किसी सन्तान के जाती रही। इसके बाद बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद हुए और सबसे छोटे स्वयं राजेन्द्र बाबू।

श्री चौधुरलालजी बिहार के हथुवा राज में महाराज छत्रसाही के दीवान थे, जो लगभग २५-३० वर्षों तक इस पद पर रहे। श्री चौधुरलालजी अपनी योग्यता, कर्मठता और ईमानदारी से महाराज छत्रसाही के स्नेह-

भाजन और विश्वासपात्र तो थे ही, सारे हथुवा राज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि थी।

राजेन्द्र बाबू के पिता श्री महादेवसहायजी घर पर ही रहा करते थे। ये फारसी के अच्छे विद्वान थे, कुछ-कुछ संस्कृत भी जानते थे। आयुर्वेद में इनकी गहरी रुचि थी और आयुर्वेदिक पुस्तकों का इन्होंने गहरा अध्ययन कर एक सुदक्ष वैद्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनके पास बहुत बड़ी तादाद में रोगी आते और उनके रोगोपचार में ये अपना अधिकांश समय लगाते। एक प्रसिद्ध वैद्य के रूप में इन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी।

पांच-छः वर्ष की अवस्था में राजेन्द्रबाबू को अक्षरारम्भ कराया गया। यह अक्षरारम्भ उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार एक मौलवी साहब ने कराया। जिस दिन अक्षरारम्भ हुआ, मौलवी साहब आए, बिस-मिल्लाह के साथ अक्षरारम्भ हुआ, शीरनी बांटी गई और उनको रुपये भी दिग गए। इस अक्षरारम्भ में तीन विद्यार्थी मौलवी साहब के सुपुर्द किए गए। इनमें दो इनके कुटुम्ब के ही चचेरे भाई थे—एक यमुनाप्रसादजी सबसे बड़े और दूसरे भी जो राजेन्द्र बाबू से बड़े थे।

मौलवी साहब बड़े मज़ेदार और मज़ाकपसन्द आदमी थे। उनका बहुत बातों पर दावा था। किसी बात को न जानना या उससे अपनी अन-भिज्ञता प्रकट करना मौलवी साहब की शान के खिलाफ था। फल यह होता कि राजेन्द्र बाबू और उनके नटखट सहपाठी उनको खूब बनाते रहते। कभी-कभी बड़े-बूढ़े भी उनके इस मज़ाक में शरीक हो जाते। उदा-हरण के लिए, एक बार एक सांड को देखते ही जब लोगों ने मौलवी साहब से कहा कि यह सांड मारता है, तो मौलवी साहब डींग मारते हुए बोले—देखूं, मुझे कैसे मारता है, और ज्योंही वे उसकी ओर लपके सांड ने मौलवी साहब को दे पटका। इसी प्रकार एक बार मौलवी साहब से जब बन्दूक चलाने की बात पूछी गई तो झट जवाब दिया कि चलाने की कहे कौन, वे एक अच्छे निशानेबाज़ हैं। बन्दूक लाई गई। उस वक्त पुराने किस्म की बारूद-वाली टोपीदार बन्दूकें होती थीं। एक ऊंचे दरख्त पर एक गिद्ध बैठा था जिसपर मौलवी साहब को निशाना लगाना था। मौलवी साहब ने पहले कभी बन्दूक नहीं चलाई थी, यही नहीं शायद उठाई भी न हो। उन्होंने
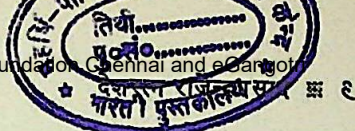
ज्योंही वन्दूक हाथ में ले उसे ऊपर की ओर उठा निशाना साध घोड़ा दवाया, घोड़ा चटका, आवाज़ हुई और उधर सब लोग गिद्ध का गिरना देख ही रहे थे कि इधर एक ओर वन्दूक और एक ओर मौलवी साहव ज़मीन पर चित नज़र आए। लोगों ने झट उनको उठाया, लड़के पानी लेने दौड़े, उनके मुंह पर छिड़का और किसी तरह घर लाए।

इस प्रकार के आमोद-प्रमोद में मौलवी साहव फारसी पढ़ाते रहे। छः-आठ महीने वाद मौलवी साहव चले गए। दूसरे मौलवी साहव आए और ये पढ़ाने लगे। इन मौलवी साहव का पढ़ाने का एक तरीका था। वड़े तड़के राजेन्द्र वावू उठकर मकतव में चले आते। मकतव उनके पक्के मकान से अलग एक-दूसरे मकान के औसारे में था। एक कोठरी में मौलवी साहव रहा करते थे और कोठरी के सामने औसारे में तख्तपोश पर बैठकर लड़के पढ़ा करते थे। मौलवी साहव कभी अपनी चारपाई पर और कभी तख्तपोश पर ही बैठकर पढ़ाया करते थे। राजेन्द्र वावू को फारसी का जो कुछ भी ज्ञान रहा उसका श्रेय इन्हीं दो मौलवी साहवों को है।

राजेन्द्रप्रसादजी का व्यवस्थित और वास्तविक विद्यार्थी-जीवन छपरा पहुंचने पर प्रारम्भ हुआ। छपरा के ज़िला स्कूल के आठवें दर्जे में, जो उन दिनों सबसे आरम्भिक दर्जा माना जाता था, इनका नाम लिखाया गया। यहीं ए बी सी और नागरी के अ आ इ ई की शिक्षा आरम्भ हुई। इसी स्कूल में राजेन्द्रप्रसादजी के भाई महेन्द्रप्रसादजी एण्ट्रेन्स क्लास में पढ़ते थे। राजेन्द्र वावू की पढ़ाई आरम्भ हुई और इन्होंने अपनी लगन, प्रतिभा और परिश्रम से वार्षिक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। परिणाम-स्वरूप आठवें से सातवें दर्जे में तरक्की मिल गई। उन दिनों छपरा हाई स्कूल के हेडमास्टर श्री क्षीरोदचन्द्रराय चौधरी थे। राजेन्द्र वावू की प्रतिभा और परिश्रमवृत्ति और परीक्षा-परिणाम से प्रभावित हो श्री चौधरी ने राजेन्द्र वावू को तुरन्त बुलाकर डवल तरक्की देकर सातवें के बदले छठे क्लास में प्रवेश दे दिया। इन दिनों राजेन्द्र वावू की अवस्था लगभग दस-ग्यारह वर्ष की थी।

भाई के एण्ट्रेन्स पास होने पर जव वे पटना कालेज में पढ़ने गए तो राजेन्द्र वावू भी उनके कारण ही पटना चले गए और पटना के टी० के०

घोष एकेडेमी स्कूल में पढ़ने लगे। पटना में दो वर्ष विद्याध्ययन में विताए और इस अवधि में वार्षिक परीक्षाओं में पूर्व की भांति प्रथम श्रेणी में स्थान पाकर चौथे दर्जे में पहुंच गए।

जब राजेन्द्र वावू छपरा में पढ़ते थे तो इनके दादा चौधुरलालजी और दादी का देहावसान हो गया। उक्त दम्पति थोड़े ही दिनों के अन्तर से चल वसे। अब राजेन्द्र वावू के पिता महादेवसहायजी ही घर के मालिक और सर्वेसर्वा थे। उन दिनों वालविवाह का न केवल किसी कौम-विशेष में वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज में एक आम रिवाज था। फिर देहातों में तो वयस्क होने के पूर्व ही विवाह कर देना वालक-वालिकाओं के वारिस अपना एक कर्तव्य मानते थे। महादेवसहायजी को भी राजेन्द्र वावू के विवाह की चिन्ता हुई और उन्होंने इस संबंध में पहल की। शादी की वातचीत चली। राजेन्द्र वावू के होनेवाले ससुर अपने छोटे भाई सहित स्वयं लड़के को देखने आए और वर को पसन्द कर विवाह की वात पक्की कर गए।

शादी बलिया ज़िले के दलन-छपरा स्थान में जीरादेई से १८-२० कोस की दूरी पर होनेवाली थी। दो दिन का रास्ता था। उस दिनों, और उन दिनों क्या आज भी, ग्रामीण जीवन में हैसियत के अनुसार हाथी, घोड़े, ऊंट, वैलगाड़ी और पालकी का वारात के लिए उपयोग होता है। राजेन्द्र वावू की वारात में भी यह सव हुआ। एक पालकी में दूल्हा राजेन्द्र वावू और शेष वाराती वैलगाड़ियों में रवाना हुए। दूल्हे के पिता महादेवसहाय जी स्वयं भी एक पालकी पर रवाना हुए। वैलगाड़ियों के अलावा वारात में एक हाथी और दो-चार घोड़े भी थे।

पालकी जिसपर वर (दूल्हा) वारात में जाया करता है एक खास किस्म की होती है। इसे आगे-पीछे दो-दो, चार कहार उठाकर चलते हैं। इसमें ऊपर छत नहीं होती, कपड़े की छहियां वांध दी जाती हैं जो चलती हुई हवा में उघरते-ढकते रहने के कारण दूल्हे को धूप-छांह का मज़ा वरावर देती रहती हैं। राजेन्द्र वावू की शादी ज्येष्ठ के महीने में हुई। तेज़ धूप और खूव गरमी इन दिनों पड़ती है। जब वारात जा रही थी तो धूप तेज़ थी ही, हवा खूव चल रही थी। राजेन्द्र बावू की पालकी की वह छहियां इस तेज़ हवा में उड़-उड़ जाती थीं। पालकी चांदी की थी, इसलिए

काफी वज़नदार थी, कहारों को वज़न सम्भालना कठिन हो रहा था और उसपर हवा के मारे छहियां वैलून का काम करतीं। कहार वड़ी मुश्किल में थे ही और दूल्हा हवा और धूप दोनों में परेशान था। किसी प्रकार दिन कटा, रात आई। वीच में सरजू पार करना था, इसलिए सरजू के किनारे के गांव में वारात ने डेरा डाल दिया। रात्रि-विश्राम कर सवेरे सरजू पार करने का काम शुरू हुआ। नदी में पानी अधिक था। कोई पुल आदि न होने से वारात नावों से पार होने लगी। सामान, सवार, गाड़ी आदि तो नाव से पार हो गए तथा वैल, घोड़ा आदि तैराकर पार कराए गए, किन्तु हाथी अड़ गया। अनेक प्रयत्न किए गए, किन्तु हाथी पानी में पैर ही नहीं वढ़ाता था। वड़ी मुश्किल से वह कुछ पग डग धरता, फिर वापस आ जाता। वह नदी पार करना ही नहीं चाहता था। अतः विवश हो हाथी को वापस कर वारात विना हाथी के ही रवाना हो गई। महादेवसहायजी को हाथी के इस प्रकार विछुड़ने का वड़ा अफसोस रहा। यह इसलिए भी कि उनकी स्वयं की शादी में अनेक हाथी वारात में गए थे, वे अपने लड़के की शादी की वारात में एक भी हाथी न ले जा सके। इसी वीच एक घटना घटी। वारात जव गांव से दो-चार मील पर थी तो दो-तीन हाथी आते हुए नज़र आए। वे किसी दूसरी वारात में गए थे और उसकी रसम पूरी करके शायद वापस लौट रहे थे। हाथीवालों से वात हुई, कुछ रुपये देने पर वे राज़ी हो गए और इस प्रकार महादेवसहायजी का अपने वेटे की वारात में हाथी ले जाने का वही हौसला जो वे चाहते थे पूरा हो गया। वारात पहुंचते-पहुंचते रात के ग्यारह वज गए। वारात पहुंचने में काफी विलम्व हो चुका था अतः कन्यापक्ष में वड़ी वेचैनी थी। जव वारात पहुंची तो उनकी यह चिन्ता दूर हुई। वारात की अगवानी की गई और परिछावन की रस्म अदा करने के लिए जव दूल्हे की आवश्यकता हुई तो देखा दूल्हा पालकी में सो रहा है। अल्पवय, फिर गरमी में दो दिन का सफर, और वह भी पालकी में; एक तो संध्या को ही सोने की आदत, उसपर इतनी थकावट! किसी तरह दूल्हे को जगाया गया, पर राजेन्द्र वाबू का जागता रहना एक कठिन समस्या थी। किसी तरह परिछावन की रस्में अदा की गईं, शादी की दूसरी रस्में भी एक-एक करके पूरी की गईं और उसी रात शुभमुहूर्त में

यानी जून १८९६ में लगभग बारह वर्ष की अवस्था में विवाह भी सम्पन्न हो गया।

राजेन्द्र बाबू के वयस्क होने पर और उसके बाद भी, अपनी शादी में उन्होंने क्या-क्या रस्में अदा कीं यह उन्हें याद नहीं आया। बचपन में गुड़ियों के विवाह के सदृश उनके स्वयं के विवाह की एक घटना उन्हें भी स्मरण रही। उन्होंने अपने विवाह के समय न तो अपनी क़ोई जवाबदारी समझी न उसका कोई महत्त्व समझा और विवाह के इस प्रसंग अथवा निश्चय में न ही उनका कोई दायित्व या निश्चय रहा। जिस प्रकार विवाह का निश्चय करने में दूसरों का हाथ था उसी प्रकार विवाह की वे सारी रस्में जो उन्हें करनी पड़ीं, घर के बड़े-बूढ़े, पंडित अथवा नाई के कहने से वे बराबर करते रहे। विवाह कब सम्पन्न हुआ और कैसे हुआ, यह भी उनकी समझ में नहीं आया। हां, एक बात उस समय उन्हें बराबर स्मरण ग्राई और वह यह कि जिस तरह उनकी भौजाई उनके बड़े भाई के विवाह की धूम-धाम के बाद एक दिन उनके घर में आ गई थी, उसी प्रकार एक दिन कोई उनकी बहू भी उनके घर में आ जाएगी।

देहातों में उस समय एक प्रथा थी—शादी के बाद दुल्हन को न ला केवल वर को लेकर बारात वापिस लौटती थी और कुछ समय बाद फिर एक छोटी-मोटी बारात, जिसे 'दुरागमन' कहते हैं, कन्यापक्ष के यहां जाती और तब वधू को विदा करा लाती। राजेन्द्र बाबू की शादी में भी यही बात हुई। बारात खाली लौटी और एक वर्ष बाद दुरागमन हुआ तो वधू की विदा हुई।

उस काल में पर्दे का आम रिवाज था, ग्रामीण जीवन में इसका सख्ती से पालन किया जाता था। राजेन्द्र बाबू का कुटुम्ब भी इसका अपवाद कैसे रहता। छोटी-छोटी बहू-बेटियों से लेकर बड़ी-बूढ़ी औरतें भी परदे के अन्दर रहतीं, जब कभी अपने कमरे से बाहर निकलना होता तो वही हाथ-भर का घूंघट। इस परदे के साथ पति-पत्नी को मिलने में भी बड़ी सख्त मर्यादाओं के बीच से गुज़रना पड़ता। राजेन्द्र बाबू अल्पवय होने के नाते ही नहीं, अपने परिवार की परिपाटी और पर्दे की इस सख्ती के कारण अपनी पत्नी के साथ रहने की तो कहे कौन, वक्त-बेवक्त उससे बात करने अथवा

उसे देखने तक का अवसर नहीं पा सकते थे। अपनी भौजाई के विवाह के बाद के उनके भाई और भौजाई के व्यवहार का वे अनुभव कर रहे थे और उसीका अनुकरण करने के अभ्यासी भी बन चुके थे। राजेन्द्र बाबू जब छुट्टियों में घर आते तो बाहर ही सोते। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो उनकी मां दाई को भेजती कि जगा लाओ, और वह उन्हें जगाकर ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती जिसमें उनकी पत्नी रहती। राजेन्द्र बाबू की आदत संध्या को ही सो जाने की थी ही, अतः अपनी पत्नी के कमरे में जाने पर भी गहरी नींद सो जाते। कितनी भी कोशिश होती राजेन्द्र बाबू की निद्रा भंग नहीं होती। प्रातः बड़े तड़के नींद टूट जाती और किसीको यह पता न चले कि वे रात को कहीं और सोए थे इस भय से चुपचाप उठकर बाहर की चारपाई पर सो जाते। सबेरे उनकी मां या चाची उन्हें रात को न जागने, जल्दी सो जाने और बुलवाने पर न आने के लिए डांटती पर राजेन्द्र बाबू के मन में भय भले ही हो, कोई कौतूहल नहीं होता था।

बाल-विवाह और पर्दे की इस प्रथा के बीच राजेन्द्र बाबू का पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन चला। बचपन से ही प्रायः घर से बाहर रहने के कारण जब कभी छुट्टियों में घर आना होता पत्नी से मुलाकात होती, वह भी उक्त मर्यादाओं के मध्य। परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक मर्यादाओं के कारण अपने जीवन के लगभग पचास वर्ष, जब तक राजेन्द्र बाबू विद्याध्ययन, जीविकोपार्जन और जीवन के अन्य ध्येयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे, अपनी पत्नी से पृथक् ही रहे और इस बीच मुश्किल से उनका सहजीवन पचास महीने का भी न रहा होगा।

विवाह के उपरान्त भाई के एफ० ए० की परीक्षा पास कर आगे की पढ़ाई के लिए उनके कलकत्ता जाने के निश्चय के कारण राजेन्द्र बाबू को भी पटना छोड़ना पड़ा। भाई की और परिवार के लोगों की राय हुई कि राजेन्द्र बाबू को हथुवा स्कूल में भर्ती किया जाए। और ऐसा ही किया गया। प्रथम तो यहां नाम लिखाने में ही कुछ दिक्कत हुई, जैसे-तैसे नाम लिखा गया, पर यहां की पढ़ाई की पद्धति बड़ी विचित्र थी। तरीका यह था कि जो सबक दिया जाए उसे दूसरे दिन कंठस्थ करके आना चाहिए।

क्लास में जब शिक्षक विद्यार्थी से सबक सुनता तो किताब बन्द करके पूरा ज्यों का त्यों सुनाना होता। राजेन्द्र बाबू की आदत किसी भी बात को बिना समझे-बूझे जबानी रटने की नहीं थी। उन्होंने इसके लिए बहुतेरा प्रयास भी किया। किसी सहपाठी ने उनसे कह दिया कि एक सौ बीस बार दुहरा लेने से सबक याद हो जाता है। राजेन्द्र बाबू ने यह भी किया और इसके लिए वे प्रायः नित्य ही रात के डेढ़-दो बजे ही उठ जाते और एक सौ बीस बार दुहराने के इस अभ्यास को करते, किन्तु अन्ततोगत्वा इस अभ्यास में भी असफल रहे। स्कूल में शिक्षक उनकी इस अयोग्यता से खीझकर कभी-कभी कुढ़कर यह कह बैठते कि यह चौथे दर्जे में भर्ती करने लायक नहीं था। साथ ही धमकी भी देते कि तुमको पांचवें क्लास में वापस कर दिया जाएगा। यह सब विद्यार्थी राजेन्द्र के लिए बड़ा कष्टप्रद होता। अन्त में वे बहुत बीमार भी पड़ गए और वार्षिक परीक्षा में भाग भी नहीं ले सके। आखिर में इस विपरीत अवस्था से ऊबकर हथुवा स्कूल से नाम कटा पुनः छपरा स्कूल के चौथे दर्जे में नाम लिखाया गया। छपरा स्कूल में राजेन्द्र बाबू पढ़ चुके थे अतः यहां की पढ़ाई, वातावरण सभी कुछ उनके मनोनुकूल था। वे अपने अध्ययन में जुट गए और थोड़े ही समय में अपने सहपाठियों और शिक्षकों की दृष्टि में एक प्रतिभाशील और तेज़ विद्यार्थी माने जाने लगे।

छपरा स्कूल में अपने अध्ययन-अध्यवसाय से राजेन्द्र बाबू ने प्रतिवर्ष पूर्ववत् सफलताएं प्राप्त कीं। यही नहीं, एण्ट्रेंस की परीक्षा में युनिवर्सिटी-भर में प्रथम स्थान प्राप्त किया। युनिवर्सिटी के इतिहास में यह प्रथम अव-सर था जब कोई बिहारी विद्यार्थी अव्वल आया हो।

एण्ट्रेन्स पास कर कालेज की पढ़ाई के लिए राजेन्द्र बाबू कलकत्ता आए और यहां के प्रेसीडेन्सी कालेज में अपना नाम लिखाया।

बिहार से बंगाल में जाने का राजेन्द्र बाबू का यह प्रथम अवसर था। ज्योंही वे क्लास में पहुंचे तो सिर खुले कोट पतलून और हैट लगाए विद्या-र्थियों को जब देखा तो कुछ भौचक्के रह गए। मन में सोचा यह लोग एंग्लो-इण्डियन हैं। पर जब हाज़िरी ली गई तब राजेन्द्र बाबू को मालूम हुआ कि ये सब हिन्दुस्तानी हैं। इसी समय एक घटना घटी। हाज़िरी के समय सब

विद्यार्थियों को पुकारा गया पर राजेन्द्र बाबू का नाम ही हाज़िरी रजिस्टर से नदारद। अतः जब शिक्षक सबकी हाज़िरी लेकर रजिस्टर बन्द करने लगा तो राजेन्द्र बाबू ने अपने स्थान पर खड़े हो कहा, मैं अपना नम्बर नहीं जानता हूं। शिक्षक ने आंख उठाकर उनकी ओर देखा और कहा, ठहरो मैंने मदरसा के लड़कों की हाज़िरी नहीं ली है, और यह कहकर झट दूसरा रजिस्टर उठाया। राजेन्द्र बाबू जो पाजामा-टोपी पहने थे झट समझ गए कि उनकी इस वेशभूषा के कारण शिक्षक ने उन्हें मुसलमान समझ लिया है। उन्होंने जवाब दिया, मैं मदरसा में नहीं पढ़ता हूं। प्रेसीडेन्सी कालेज में आज ही दाखिल हुआ हूं, इसलिए नम्बर नहीं मिला। शिक्षक ने नाम पूछा और जब राजेन्द्र बाबू ने अपना नाम बताया, पूरी क्लास मुड़कर उन्हें देखने लगी क्योंकि सभी विद्यार्थियों को मालूम था कि इस नाम का कोई विद्यार्थी इस वर्ष युनिवर्सिटी में फर्स्ट आया है। शिक्षक ने कहा, अभी नाम दर्ज नहीं है, जब दर्ज हो जाएगा तो आज की हाज़िरी भी पीछे लिख दूंगा।

आखिर राजेन्द्रबाबू की कालेज की पढ़ाई प्रारम्भ हुई और वे अपने उसी उत्साह और लगन से जो अंत तक रही थी, अपनी पढ़ाई में तत्पर हो गए। एण्ट्रेन्स की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करने के कारण तीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति भी राजेन्द्र बाबू को मिल रही थी। अतः एफ० ए० में भी यह स्थान बना रहे, इस दृष्टि से भी वे पूरी मेहनत करके पढ़ने लगे। आखिर एफ० ए० की परीक्षा भी दी। एफ० ए० का परीक्षा-फल जब घोषित हुआ, एक रोचक घटना घटी। परीक्षा-फल सुनाने के लिए एक अंग्रेज़ अफसर आए। सब विद्यार्थी जमा थे। एक-एक कर ज्योंही उत्तीर्ण विद्यार्थियों के नाम घोषित कर वे मौन हुए, राजेन्द्र बाबू ने देखा उनका नाम ही नदारद है। वे प्रत्येक विषय में अव्वल आए थे, यह न केवल राजेन्द्र बाबू को ज्ञात था वरन् कालेज के प्रायः सभी विद्यार्थी जानते थे। अपना नाम न पुकारे जाने पर राजेन्द्र बाबू घबरा गए। साथियों को भी आश्चर्य था। जब राजेन्द्र बाबू ने कहा—मेरा नाम नहीं पढ़ा गया तो प्रिंसिपल ने झट उत्तर दिया – तुमने पास नहीं किया, इसलिए तुम्हारा नाम नहीं आया। राजेन्द्र बाबू ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता, मैंने ज़रूर पास किया है। उत्तर मिला—ऐसा नहीं हो सकता, अगर पास किया होता तो ज़रूर नाम

आता। जव राजेन्द्र बाबू फिर कुछ कहने को उद्यत हुए, प्रिंसिपल विगड़ गए और बोले, चुप रहो, नहीं तो जुर्माना करूंगा। उन्होंने हिम्मत कर फिर कुछ कहना चाहा। उत्तर मिला—तुमको पांच रुपया जुर्माना करता हूं। वे फिर कुछ बोले कि उत्तर मिला—दस रुपया जुर्माना। इस प्रकार प्रत्येक आवाज़ पर नीलाम की वोली के सदृश पांच-पांच रुपये वढ़कर पच्चीस तक पहुंच गए। राजेन्द्र बाबू की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए। इतने में कालेज के हेडक्लर्क ने, जो उन्हें जानता था, पीछे से इशारा किया कि चुप रहो, सब ठीक हो जाएगा। बात असल में यह हुई थी कि हेडक्लर्क ने उत्तीर्ण विद्यार्थियों की जो फेहरिस्त तैयार की थी उसमें राजेन्द्र बाबू का नाम भूल से छूट गया था और प्रिंसिपल साहब नये आए थे अत: उन्हें न राजेन्द्र बाबू का कोई परिचय था न कोई व्यक्तिगत जानकारी। आखिर भूल सुधार ली गई और राजेन्द्र बाबू का भी परीक्षा-फल घोषित हो गया। एफ० ए० की परीक्षा के लिए राजेन्द्र बाबू ने खूब परिश्रम किया था अत: इस बार भी अव्वल आए और एण्ट्रेन्स परीक्षा से भी अधिक नम्बर पाने के कारण सरकार की ओर से ५० रुपये मासिक की दो वर्ष के लिए छात्र-वृत्ति मिली। पुस्तकें भी इनाम में दी गईं।

बी० ए० क्लास में पहुंचकर राजेन्द्र बाबू के सामने प्रश्न यह उठा कि वे किस विषय में आनर्स लें। उन दिनों बी० ए० में तीन विषय पढ़ने होते थे, जिनमें अंग्रेज़ी और फिलासफी अनिवार्य थे और तीसरा विषय ऐसा था जिसको चुन लेने का अधिकार विद्यार्थी को था। पर चुन लेने के पश्चात् अन्य दो अनिवार्य विषयों की तरह ही उसे पढ़ना होता और उसमें भी परीक्षा पास करनी होती। राजेन्द्र बाबू ने हिस्ट्री (इतिहास) और एक्नो-मिक्स (अर्थशास्त्र) चुन लिए। उन दिनों आनर्स के लिए 'पास' के अति-रिक्त कुछ और पुस्तकें पढ़नी होती थीं और इन पुस्तकों में परीक्षा भी अलग होती। इस प्रकार आनर्स के विषय की परीक्षा अधिक कड़ी होती और क्लास-लेक्चर भी अधिक होते। राजेन्द्र बाबू के सामने प्रश्न यह था कि वे किस विषय में आनर्स लें—दो विषयों में या तीनों में। अन्त में निश्चय किया कि अंग्रेज़ी, हिस्ट्री और एक्नोमिक्स तीनों विषयों में आनर्स लिया जाए। इससे एक लाभ और था, बी० ए० परीक्षा के फलस्वरूप दो

छात्रवृत्तियां, एक पचास रुपये मासिक और दूसरी चालीस मासिक की मिलती थीं। ये छात्रवृत्तियां केवल आनर्स के नम्वर जोड़कर ही मिला करती थीं। सारे कालेज में राजेन्द्र वाबू के साथी श्री रामानुग्रह और राजेन्द्र वाबू केवल दो ही ऐसे छात्र थे जिन्होंने तीन विषयों में आनर्स ले रखा था।

इन्हीं दिनों कलकत्ता में श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी ने 'डान सोसाइटी' नामक एक संस्था कायम की थी। इसमें विद्यार्थियों को निःशुल्क सदस्यता प्राप्त होती थी। इसका उद्देश्य विद्यार्थियों की पढ़ाई में सहायता देना, उनका चरित्र निर्माण करता तथा देश की गतिविधि से परिचित कराना था। विद्यार्थियों से कुछ सेवा का काम भी लिया जाता जो इस संस्था की शिक्षा का एक प्रधान अंग था। सोसाइटी की ओर से प्रति सप्ताह दो क्लास किए जाते और इनमें दो लेक्चर होते। इनमें एक तो विविध विषयों पर होता और दूसरा गीता पर। गीता क्लास एक पण्डित लेते और वड़ी सहज रीति से गीता समझाते। दूसरी क्लास को कालेज के प्रिंसिपल एन० एन० घोष, कभी सतीश वावू, कभी सिस्टर निवेदिता और कभी दूसरे लोग लेक्चर दिया करते। लेक्चर के विषय वड़े सारगर्भित होते, इनसे देश और दुनिया की जानकारी मिलती। इन लेक्चर्स से युनिवर्सिटी की परीक्षा में भी बड़ी सहायता मिली। संस्था की ओर से क्रियात्मक रूप से सेवा करने की शिक्षा के लिए एक छोटी-सी स्वदेशी कपड़ों और दूसरी चीजों की दूकान खोली गई जिसकी देखरेख और संचालन मेम्वरों के जिम्मे रहते। इसका सामान वेचने, हिसाव आदि रखने का सारा काम सदस्यों को करना पड़ता। दूकान सायंकाल केवल दो घंटे के लिए ही खुलती। इस प्रकार राजेन्द्र बाबू ने इस संस्था के सदस्य बन सर्वप्रथम सेवा की दीक्षा ली।

श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी स्वयं एक प्रतिभाशाली छात्र थे। ये आशुतोष मुखर्जी और स्वामी विवेकानन्द के साथी थे। इस सोसाइटी को जिन महत्-जनों की सहायता, सहयोग और सहानुभूति प्राप्त थी इनमें मि० एन० एन० घोष, सिस्टर निवेदिता, सर गुरुदास बनर्जी आदि प्रमुख थे। संस्था की ओर से योग्य और प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां और इनाम भी वितरित किए जाते, जो राजेन्द्र बाबू को भी प्राप्त हुए।

सोसाइटी में जाने से राजेन्द्र बाबू के हृदय में विचार-मंथन बढ़ा और अभी तक जो सारा ध्यान परीक्षा-फल पर केन्द्रित था वह सार्वजनिक बातों की ओर भी बढ़ गया। अपने सहयोगियों के साथ इन्हीं दिनों कलकत्ता में 'बिहारी क्लब' की स्थापना भी राजेन्द्र बाबू ने की, जिसमें प्रति रविवार अपने सहपाठियों के साथ मिलकर विचार-विमर्श और भाषण आदि का कार्यक्रम होने लगा। इसके अलावा कालेज की यूनियन में भी राजेन्द्र बाबू बराबर भाग लेने लगे और एक बार स्वयं उसके मंत्री भी बने।

सन् १९०४ में राजेन्द्र बाबू ने एम० ए० परीक्षा पास की। १९०५ में बंग-भंग का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह वर्ष एक प्रकार से बड़े आन्दोलन के प्रारम्भ और जागृति का साल था। विशेषकर विद्यार्थियों में इस आन्दोलन ने एक नये जीवन का संचार कर दिया। राजेन्द्र बाबू सार्वजनिक सभाओं में प्रायः प्रारम्भ से ही जाते थे। कांग्रेस के नाम और काम से भी परिचित थे। जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होता तो उसके अध्यक्षीय भाषण को वे बड़े चाव से पढ़ते। ७ अगस्त, १९०५ को कलकत्ता की एक बड़ी सभा में, जिसमें विदेशी वस्तुओं के बायकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, राजेन्द्र बाबू गए। लोगों ने बड़े उत्साह से व्रत लिया कि वे स्वदेशी का ही व्यवहार करेंगे। आन्दोलन ज़ोरों से चला और प्रायः प्रतिदिन यत्र-तत्र सार्वजनिक सभाएं होतीं। उन सभाओं में कहीं सुरेन्द्र बाबू, कहीं विपिनचन्द्र पाल, कहीं ए० चौधरी और कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते। कालेज के विद्यार्थियों में भी बड़ी हलचल थी। जो विद्यार्थी कभी स्वदेशी वस्तु का व्यवहार नहीं करते थे उन्होंने भी विदेशी वस्तु के परित्याग का निश्चय किया। इस प्रकार विद्यार्थियों में एक नया उत्साह और जोश पैदा हो गया। इसी समय कालेज के होस्टल में एक छोटी-सी किन्तु महत्त्वपूर्ण घटना घट गई।

राजेन्द्र बाबू का एक तो ग्रामीण जीवन के अभ्यासी होने के कारण तथा अपने भाई की प्रेरणा से बहुत पहले से ही स्वदेशी वस्तुओं की ओर ही झुकाव था, फिर इन दिनों तो और अधिक। राजेन्द्र बाबू अपनी क्लास में जो लेक्चर होते उनके पेन्सिल से नोट ले लिया करते थे। पेन्सिल के नोट कभी-कभी मिट भी जाते अतः वे कलम-दवात ले जाने लगे, इससे

शीघ्रलेखन में उन्हें कुछ असुविधा होती। एक दिन बाज़ार में उन्होंने देखा कि स्टाइलपेन निकला है जिसमें रोशनाई भरी रहती है और दवात की ज़रूरत नहीं रहती। यह विदेशी था। अतः उन्होंने इसे खरीद लिया। होस्टल में उनके साथियों को भी यह मालूम था। साथी बहुत बिगड़े और राजेन्द्र बाबू से उनकी इस कृति के लिए झगड़ने लगे। इनमें कुछ ऐसे भी थे जिनके पास विदेशी कागज़, विदेशी वस्त्र आदि बहुत-सी वस्तुएं थीं। सब लोगों ने निश्चय किया कि एक दिन विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाए और उसीमें सभी विदेशी वस्तुओं को जला दिया जाए। यद्यपि सभी चाहते थे कि विदेशी कपड़े जला दिए जाएं पर प्रायः सभी यह भी नहीं चाहते थे कि उनके सभी विदेशी वस्तुएं जल जाएं। जब विवाद बढ़ा तो राजेन्द्र बाबू ने कहा कि अब अपने-अपने ट्रंक खोलो, जिसके पास जितना विदेशी कपड़ा हो होली में आज ही जला दो, तो मैं भी अभी अपना ट्रंक खोलता हू और मेरे पास जो कुछ विदेशी होगा उसे अभी अग्नि की भेंट कर दूंगा। सब चौकन्ने हो गए। प्रायः सभी जानते थे कि राजेन्द्र बाबू के पास उस कलम के सिवा विदेशी कुछ नहीं है। राजेन्द्र बाबू ने अपना ट्रंक खोल दिया और एक-एक कर सब चीज़ें बिखेर दीं। विद्यार्थियों की भीड़ हट गई और फिर किसीने कभी उनपर इस प्रकार का कोई आक्षेप नहीं किया। कुछ ने विदेशी कागज़ आदि तो जला दिए, पर जो कीमती कोट आदि थे जल्दी में उन्हें जलाना उचित न समझा। हां, उसके बाद उन दिनों उन वस्त्रों का उपयोग करना विद्यार्थियों ने अवश्य छोड़ दिया।

सदा की भांति बी० ए० की परीक्षा में भी राजेन्द्र बाबू ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की और विश्वविद्यालय में अव्वल स्थान प्राप्त कर दोनों छात्रवृत्तियां--एक पचास की और दूसरी चालीस की—उन्हें फिर मिलने लगीं।

बी० ए० पास कर कलकत्ता में ही एम० ए० और बी० एल० की पढ़ाई आरम्भ की। इन्हीं दिनों कलकत्ता में बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन राजेन्द्र बाबू ने आयोजित किया। इस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी कोई छात्र सम्मेलन नहीं हुआ था। इससे बिहारी छात्रों का एक बहुत बड़ा संगठन हो गया। कलकत्ता में बिहारी क्लब इसकी शाखा बन गया और

प्रायः सभी शहरों में इसकी शाखाएं स्थापित हो गईं। इस सम्मेलन की सन् १९०६ में स्थापना हुई और १९२० के असहयोग आन्दोलन शुरू होने तक इसका वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से होने लगा और इसके सभापति-पद को विहार और वाहर की जिन विभूतियों ने सुशोभित किया उनमें मिस्टर शर्फुद्दीन, मिस्टर हसन इमाम, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, वावू परमेश्वरलाल, वावू दीपनारायणसिंह, बाबू व्रजकिशोरप्रसाद प्रभृति विहार के, तथा बाहर के लोगों में श्रीमती एनीवेसेण्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, माहात्मा गांधी, मिस्टर एण्डरूज आदि प्रमुख हैं।

सन् १९०६ के दिसम्बर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इसमें सर्वप्रथम एक स्वयंसेवक (वालंटियर) के रूप में राजेन्द्र वावू ने भाग लिया। अधिवेशन का वातावरण वड़ा उत्साहपूर्ण रहा। इस समय गरम दल और नरम दल का आविर्भाव हो चुका था। गरम दल के नेता समझे जाते थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष प्रभृति और नरम दल के नेता थे सर फिरोजशाह मेहता, गोखले प्रभृति। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय बीच के व्यक्ति माने जाते थे। इस झगड़े को मिटाने के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से बुलाकर सभापति बनाए गए थे। इस अधिवेशन में स्वयंयेवक के रूप में राजेन्द्र बाबू की ड्यूटी कांग्रेस पंडाल में थी। अतः विषय निर्धारिणी समिति की वहसें आदि सुनने का इन्हें भरपूर अवसर मिला। इसी अधिवेशन में राजेन्द्र वावू ने सरोजिनी नायडू, मालवीयजी और मिस्टर जिन्ना के भाषण पहले-पहल सुने। इस अधिवेशन की कार्य-वाही और विचारों के निरीक्षण-परीक्षण से राजेन्द्र वावू के मन में कांग्रेस के प्रति श्रद्धा वढ़ गई।

सन् १९१० ईस्वी में जव राजेन्द्र वावू वकालत पढ़ रहे थे सर्व प्रथम कलकत्ता में माननीय गोखले से मिले। थोड़े ही समय पूर्व माननीय गोखले ने 'सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। गोखले साहव को राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा और बुद्धिमत्ता का परिचय मिल चुका था। अतः उन्होंने राजेन्द्र वावू से देशसेवा की भावना से उक्त सोसाइटी में शामिल होने का आग्रह किया। उन्होंने इस वक्त जो शब्द राजेन्द्र बाबू से कहे वे

उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा—"हो सकता है तुम्हारी वकालत खूब चले, वहुत रुपये तुम पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ागाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों के हुआ करते हैं, तुमको सब मयस्सर हों। पर मुल्क का भी दावा कुछ लड़कों पर होता है, और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो इसलिए तुमपर यह दावा और भी अधिक है।" अपना स्वयं का हवाला देते हुए गोखले ने कहा—"हो सकता है तुम्हारे पारिवारिक जन नाराज हों और दुःखी हों, पर यह विश्वास रखो, सब लोग अन्त में तुम्हारी पूजा करेंगे। लोगों की सब उम्मीदें तुमपर वंधी हैं, पर कौन जानता है, अगर तुम्हारी मृत्यु हो गई, तो उसे तो वे लोग वर्दाश्त कर ही लेंगे।"

मनानीय गोखले के उक्त कथन का राजेन्द्र वावू के मन पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। इसका कारण था। देशसेवा की भावना के जब-तब जाग्रत् होने पर भी किसी महापुरुष द्वारा देशसेवा के लिए आह्वान और वह भी इन मार्मिक शब्दों में, यह राजेन्द्र वावू के अब तक के जीवन में अपूर्व ही था। गोखले के इन शब्दों को सुनने के वाद राजेन्द्र बाबू का हृदय-मंथन शुरू हुआ। एक ओर पारिवारिक ज़िम्मेदारियां, पिताजी का स्वर्ग-वास हो चुका था, परिवार की सारी जवावदारी भाई पर थी, मां अभी जीवित थीं। राजेन्द्र वावू ने एम० ए० और बी० एल० की परीक्षा भी पास कर ली थी और वकालत की तैयारी कर रहे थे। एक ओर पारिवा-रिक भरण-पोषण, धन-वैभव का आकर्षण और दूसरी ओर देश-सेवा का दुष्कर व्रत। इस मानसिक संघर्ष की स्थिति में अनेक दिनों विचार-मंथन में विता पारिवारिक संघर्ष का सामना करते हुए, अन्त में माननीय गोखले की वात मान उनकी सोसायटी में शरीक हो गए। अब राजेन्द्र वावू कल-कत्ता में वकालत भी करने लगे थे। इसी बीच एम० एल० परीक्षा देने की भी तैयारी की और इसमें भी अव्वल स्थान पाया। इसके बाद डी० एल० की उपाधि के लिए, जिसके मिलने पर आदमी कानून का डाक्टर माना जाता है, प्रयत्नशील हो गए।

१९११ के दिम्बर में शाही दरबार के वक्त विहार सूबे के, जो अब तक बंगाल का ही एक हिस्सा था, अलग होने की घोषणा हुई और सन् १९१२

के अप्रैल से विहार एक नया सूवा वन गया। सन् १९१६ के मार्च में पटना में विहार का हाईकोर्ट खुला और हाईकोर्ट के पटना आने पर सभी विहारी वकीलों के साथ राजेन्द्र वावू भी कलकत्ता से पटना आकर वकालत करने लगे। राजेन्द्र वावू अपने पेशे में यद्यपि कलकत्ता में ही काफी दक्ष और प्रसिद्ध हो गए थे और अनेक वड़े मामलों में यश और धन दोनों ही कमाया था, किन्तु पटना पहुंचने पर यह प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा वहुत वढ़ गई।

कलकत्ता से पटना आने के पूर्व राजेन्द्र वावू छात्र-सम्मेलन के मुंगेर अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए। इन्हीं दिनों हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत् हुआ। कलकत्ता की हिन्दी साहित्य परिषद से भी राजेन्द्र वावू का निकट का सम्वन्ध रहा और अपने योगदान से वे सदा उसकी सेवा-सहायता करते रहें। इन्हीं दिनों राजेन्द्र वावू ने अपने मित्रों के साथ पत्रों में कुछ लेख आदि लिखे जिनमें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता पर वल दिया। इस विचार को हिन्दी-सेवियों ने वहुत पसन्द किया और काशी में सम्मेलन का पहला अधिवेशन महामना मालवीयजी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। तभी से राजेन्द्र वावू हिन्दी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हितैषी हो गए और आगे चलकर सन् १९१२ के दिसम्वर में सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन की स्वागतकारिणी के प्रधानमंत्री तथा सन् १९२४ में सम्मेलन के अखिल भारतीय कोकोनाडा अधिवेशन के अध्यक्ष भी वने।

१९१६ में लखनऊ कांग्रेस वड़े समारोह के साथ हुई। १९०७ से कांग्रेस में जो दो दल हो गए थे और गरम पार्टी कांग्रेस से पृथक् हो गई थी तव से कांग्रेस की लोकप्रियता घट गई थी और इसके वार्पिक अधिवशनों में लोगों की उपस्थिति कम होने लगी थी। देश के हितैषियों की इच्छा थी कि दोनों दल आपस में फिर मिल जाएं जिससे कांग्रेस पुनः देश की एक सवल शक्ति वन जाए। यह प्रयत्न १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में सफल हुआ। इसमें एक तरफ लोकमान्य तिलक अपने दल-वल के साथ आए थे, दूसरी तरफ नरम दल के भी प्रायः सभी नेतागण पधारे थे। इसी वर्ष मुस्लिम लीग के साथ भी समझौता हो गया था। महात्मा गांधी भी, जो १९१५ में ही दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे, सारे देश का दौरा कर, इस अधिवेशन में शामिल

हुए थे ।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने जो काम किया उससे सारा देश परिचित हो गया था और भारत के लोग भी उनके इस कार्य से प्रभावित हो उनकी सहायता और सहयोग को अनुभव करने लगे थे । यद्यपि राजेन्द्र वावू को यह तो मालूम था कि दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी कोई वड़ा काम करके स्वदेश लौटे हैं, तथापि वे यह नहीं जानते थे कि देश के अन्य नेताओं की तरह वे भी एक बड़े नेता हैं । विहार के राजकुमार शुक्ल गांधीजी से लखनऊ कांग्रेस में मिले और उनसे विहार में नीलवरों के अत्याचारों से पीड़ित किसानों की सहायता के लिए चम्पारन आने की प्रार्थना की। गांधीजी लखनऊ कांग्रेस से कलकत्ता चले आए और कलकत्ता से श्री शुक्ल को पत्र लिखा कि वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के समय कलकत्ता में उनसे मिलें । कलकत्ते की इस बैठक में राजेन्द्र वावू भी उपस्थित थे और इत्तफाक से गांधीजी के वगल में ही बैठे थे। राजेन्द्र वावू स्वभाव से ही संकोची और आगे वढ़कर स्वयं किसीसे मेल-मुलाकात न करने के अभ्यासी थे । अतः गांधीजी के निकट रहने पर भी उनसे भेंट नहीं कर सके । कमेटी उठने पर गांधीजी उठे और राजकुमार शुक्ल उन्हें लेकर सीधे पटना रवाना हो गए। गांधीजी पटना आ गए और राजकुमार शुक्ल उनको राजेन्द्र वावू के घर ले गए, पर वहां राजेन्द्र वावू के नौकर के सिवा और कोई था नहीं । नौकर ने समझा कोई देहाती मुवक्किल आए हैं इसलिए उसने कुछ उपेक्षाभाव से वातकर उन्हें वाहर वरामदे में ही छोड़ दिया। गांधीजी कुछ देर रुके ही थे कि इतने में मजहरुलहक साहब आए और गांधीजी को अपने घर ले गए। संध्या को गांधीजी मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां आचार्य कृपलानी के साथ ठहरे । यहां से गांधीजी का चम्पारन जाने का विचार वना । चम्पारन ज़िले का सदर मोतीहारी हैं, पहले गांधीजी यहां आए । यहां पहुंचने पर एक गांव से कुछ प्रतिष्ठित किसान आकर उनसे मिले जिनका घर दो-चार दिन पहले ही नीलवरों ने लूट लिया था । रैयत ने सारा किस्सा गांधीजी को सुनाया। गांधीजी वहां जाकर स्वयं सारा हाल जानना चाहते थे । इसी बीच गांधीजी के पास कलेक्टर का हुक्म पहुंचा कि आप ज़िला छोड़कर चले जाइए। गांधीजी ने ज़िला छोड़ने से इन्कार

कर दिया। गांधीजी को मालूम था कि हुक्मउदूली के लिए उनपर मुकदमा चलाया जाएगा और वह उसका इन्तज़ार करने लगे। राजेन्द्र बाबू इस समय पटना में थे। गांधीजी ने राजेन्द्र बाबू को सारी बातें तार द्वारा पटना लिख भेजीं।

यह प्रथम अवसर था जब गांधीजी-राजेन्द्र बाबू का किसी प्रकार का सम्पर्क हुआ। राजेन्द्र बाबू ब्रजकिशोर, अनुग्रहनारायण और शम्भूशरण के साथ मोतीहारी रवाना हो गए। राजेन्द्र बाबू के मोतीहारी पहुंचने के पूर्व मुकदमा अदालत में पेश हो चुका था और सुनवाई के बाद हुक्म के के लिए तीन-चार दिनों के लिए मुलतवी कर दिया गया था। मोतीहारी में गांधीजी बाबू गोरखप्रसाद के मकान पर ठहरे थे। अपने साथियों के साथ राजेन्द्र बाबू जब पहुंचे तो गांधीजी एक कुर्ता पहने बैठे थे। जब गांधीजी से राजेन्द्र बाबू का परिचय कराया गया तो हंसते हुए उन्होंने कहा—"आप आ गए ? आपके घर पर तो मैं गया था।" राजेन्द्र बाबू ने गांधीजी का पटना में उनके घर जाना और नौकर ने जो व्यवहार किया यह सुन रक्खा था। अतः वे गांधीजी की इस बात पर कुछ शर्मिन्दा भी हुए। बाद में कचहरी में जो कुछ हुआ गांधीजी ने विस्तार से सब वृत्त कह सुनाया।

राजेन्द्र बाबू की गांधीजी से यह प्रथम भेंट थी। इस मुलाकात का गांधीजी की वेशभूषा और बातचीत से राजेन्द्र बाबू के मन पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ देर बात करने के बाद गांधीजी ने राजेन्द्र बाबू से कहा कि वे शेष बातों की जानकारी बाबू धरनीधर और बाबू रामनौमी से ले लें। गांधीजी ने रात-भर जागकर वाइसराय तथा अन्य नेताओं को पत्र आदि लिखे थे तथा अपने मुकदमे का बयान भी उन्होंने रात ही में तैयार कर लिया था। गांधीजी ने इस बीच राजेन्द्र बाबू और उनके साथियों से प्रश्न किया कि उनके जेल चले जाने पर वे क्या करेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में राजेन्द्र बाबू के साथी बाबू धरनीधर ने मज़ाक में कह दिया कि आपके कैद हो जाने पर हमारा भी काम खत्म हो जाएगा और हम लोग अपने-अपने घर चले जाएंगे। यह सुनकर गांधीजी ने कुछ आश्चर्य के साथ पूछा—और हाथ में लिया हुआ काम ऐसे ही छोड़ देंगे? इसपर कुछ सोचकर बाबू

धरनीधर ने उत्तर दिया—जांच का काम जारी रक्खेंगे। और जब उन-पर भी सरकार की ओर से नोटिस मिल जाएगा तो चूंकि यह जेल जाने को तैयार नहीं हैं अतः दूसरे आदमी को भेजेंगे जो जांच का काम जारी रक्खेगा और जब उसको नोटिस मिलेगा तो तीसरे आदमी को भेजा जाएगा। इस प्रकार बारी-बारी नये आदमी को भेजने की व्यवस्था कर काम जारी रखा जाएगा।

यह सुनकर गांधीजी को कुछ सन्तोष तो हुआ, पर पूरा नहीं। राजेन्द्र बाबू भी अपने साथियों सहित इस मानसिक उथल-पुथल में थे कि यह आदमी (गांधीजी) न मालूम क्यों और कहां से आकर यहां की रैयतों का कष्ट दूर करने के लिए जेल जा रहा है और हम लोग जो यहां के बाशिन्दा हैं और रैयतों की सहायता का दम भरते हैं, इस प्रकार अपने-अपने घर चले जाएं—यह कहां तक उचित है !

जेल की बात किसीने कभी मन में सोची नहीं थी। जेल जो केवल जुर्मी के लिए होती है और जिसकी भयंकरता से बचने के लिए जुर्मी व्यक्ति भी हज़ारों रुपये खर्च कर उससे बचना चाहता है और स्वयं एक वकील होने के नाते जेल की जिस भयावह स्थिति का राजेन्द्र बाबू और उनके साथियों को जो अनुमान था सहज ही ऐसे जेल जाने की बात सोच सकना भी बहुत मुश्किल था। किन्तु बार-बार मन में यही प्रश्न उठता कि जिस जेल से अपराधी व्यक्ति भी घबराता है और यदि जाना भी पड़ता है तो हज़ारों रुपये खर्च कर उससे बचने अथवा वहां आराम पाने की जो कोशिशें होती हैं उस जेल-जीवन के कष्ट उठाने को आखिर गांधीजी क्यों तैयार हैं ? परोपकार और दूसरों के हित की दृष्टि से जब गांधीजी का अनुकरण करने की बात मन में आती तो घर-परिवार और बाल-बच्चों की चिन्ता चित्त में उमड़ पड़ती। आखिर रात्रि-भर विचार-विमर्श कर दूसरे दिन जब सब लोग गांधीजी के साथ कचहरी जा रहे थे सब लोगों की भावनाएं उमड़ पड़ीं और सभीने साफ-साफ कह दिया कि अगर आवश्य-कता हुई तो हम लोग भी जेल जाएंगे।

यह सुनते ही गांधीजी का चेहरा दमक उठा और वे प्रसन्न हो बोले, "अब मामला फतह हो जाएगा।"

जैसा गांधीजी को वचन दिया तदनुसार राजेन्द्र बाबू ने अपने साथियों सहित जांच का काम जारी रखने के लिए अपना कार्यक्रम भी बना लिया और इस प्रकार कुछ व्यक्तियों की अनेक टोलियां बनाईं कि ये टोलियां जेल जाने की नौबत आने पर बारी-बारी से काम करती रहें और यह सिलसिला जारी रहे।

चम्पारन ज़िले में प्रायः एक सौ बरस से अंग्रेज़ नील की खेती करते थे और कराते थे। सारे ज़िले में जहां-जहां नील हो सकती थी उन्होंने नील बनाने के कारखाने स्थापित कर दिए थे। इस काम के लिए वे गांवों में रहनेवाली रैयतों से बेगार लेते और उन्हें इस बात के लिए मजबूर करते कि वे भी अपने खेतों में नील बोया करें। एक तरह से उन्होंने इसे एक कानून का रूप दे दिया था। जो रैयत हिम्मत कर उनकी आज्ञा मानने से इन्कार करती उसके ऊपर हज़ार तरह के जुल्म कर उसे मजबूर किया जाता। उसका घर-खेत लूट लिया जाता, खेत मवेशियों से चरा दिया जाता। झूठे मुकदमे चला दिए जाते, जुर्माना किया जाता, उसे पीटा जाता, यानी तरह-तरह के अत्याचार रैयतों पर किए जाते। सरकार भी इन्हीं गोरों की सहायता करती थी।

गांधीजी के चम्पारन पहुंचने पर रैयतों में, जो नीलवरों के अत्याचार और उत्पीड़न से कराह रही थीं, एक नई जान आ गई। गांधीजी ने चंपारन की जांच शुरू की। गांव-गांव जाकर स्वयं रैयतों से मिले, हज़ारों की संख्या में उनके बयान लिखवाए। गांधीजी का यह जांच-कार्य बराबर चलता रहा। उधर उनपर चल रहा मुकदमा फैसले के लिए मुलतवी था, जिस दिन अदालत में गांधीजी का बयान हुआ दूर-दूर के गांवों से हज़ारों रैयतों की इतनी भीड़ हुई कि अदालत के दरवाज़े टूट गए। आखिर मुकदमा समाप्त हुआ और गांधीजी को मजिस्ट्रेट का हुक्म मिला कि सरकार ने उनपर जो मुकदमा चलाया था वह वापिस ले लिया गया और उन्हें जांच करने की आज़ादी है।

इस बीच राजेन्द्र बाबू चम्पारन के पूरे दौरे में गांधीजी के साथ रहे और गांधीजी के कार्य, उनकी कार्यपद्धति, विचार और उसका पक्ष और विपक्ष पर पड़नेवाला जो प्रभाव उन्होंने देखा उससे उनके प्रति प्रेम तो

वढ़ा ही, उनकी कार्यपद्धति और दूरगामी परिणामों पर भी पक्का भरोसा हो गया और यहीं चम्पारन कांड समाप्त होते-होते राजेन्द्र वाबू ने अपने आपको पूर्णरूप से वापू के कदमों में समर्पित कर दिया।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन में

सन् १९१७ से ही भारतवर्ष में राजनीतिक जागृति की लहर फैल गई थी। सन् १९१८ के नवम्वर में यूरोप का प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। सन् १९१७ में श्रीमती एनीवेसेण्ट ने 'होम रूल लीग' कायम करके सारे देश में हलचल मचा दी थी। प्रायः सभी प्रान्तों में इसकी शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। लोगों में वड़ा उत्साह था और सरकार कुछ घवराई हुई थी। सरकार ने श्रीमती एनीवेसेण्ट को उनके दो साथियों सहित नज़रवन्द कर दिया जिससे लोगों में और जोश उमड़ पड़ा था। उन्हीं दिनों पार्लिया-मेण्ट में भारत-मन्त्री श्री मांटेगू ने एक एलान किया जिसमें वायदा किया कि भारत को आहिस्ता-आहिस्ता शासन के अधिकार दिए जाएंगे। श्री मांटेगू भारत आए और उन्होंने यहां के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारतीय नेताओं से वातचीत की। दोनों ने मिलकर एक रिपोर्ट तैयार की और उसके आधार पर पार्लियामेण्ट ने १९२० में एक कानून पास किया। इस बीच में श्रीमती एनीवेसेण्ट छोड़ दी गई थीं और १९१७ में होने वाली कलकत्ता कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गईं। राजेन्द्र वावू इस अधिवेशन में भाग लेने गांधीजी के साथ ही कलकत्ता गए थे।

जर्मनी के युद्ध के समय भारत ने ब्रिटिश सरकार की भरपूर सहायता की थी। एक ओर यह सहायता स्वेच्छा से की गई थी, दूसरी ओर सरकार ने ज़ोर-ज़वरदस्ती से भी काम लिया था। विशेषकर पंजाव में अधिक ज़ोर-ज़वरदस्ती की गई थी और पंजाब पर इसका वहुत वुरा असर पड़ा था। पंजाब के अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी असन्तोष कम नहीं था। इस प्रकार पंजाव के और देश के अन्य भागों में कुल मिलाकर हिन्दू, मुसलमान

और सिक्ख सभी वहुत दुखी थे। सरकार इस स्थिति से परिचित थी। लड़ाई के समय जो भारत रक्षा कानून लागू था और जो नियमानुसार लड़ाई के छः महीने बाद समाप्त हो जाता है, यदि वह न रहा तो मुमकिन है यह असन्तोष उमड़ पड़े। इसके साथ ही इस बीच जो लोग नजरबन्द थे इस कानून के उठते ही सरकार को उन्हें भी छोड़ना पड़ता। अतः इन सभी दृष्टियों से सरकार ने दुरंगी नीति अपनाई। सरकार ने एक कमेटी की स्थापना की और इसके प्रधान सर सिडनी रौलट, जो लन्दन हाईकोर्ट के एक जज थे, को बनाया। इस कमेटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसने भारतीय षड्यन्त्रों का हवाला देते हुए इस वात की सिफारिश की कि एक ऐसे कानून की ज़रूरत है जिसके द्वारा सरकार षड्यन्त्रकारियों को उपद्रव करने से रोकने और हिन्दुस्तान को क्रान्ति से वचाने में समर्थ रहे। अर्थात् प्रायः वे सभी अधिकार सरकार के पास रहें जो लड़ाई की नाजुक स्थिति में भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत सरकार को प्राप्त रहे। इस प्रकार एक तरफ तो मांटेग्यू चैम्सफोर्ड रिफार्म (शासन सुधार योजना) स्कीम १९१८ के बीच में निकली और दूसरी ओर रौलट रिपोर्ट भी १९१८ के अन्त में निकल गई।

रौलट रिपोर्ट ने सारे देश में व्याप्त असन्तोष की आग में घी की आहुति का काम किया। इन दिनों राजेन्द्र वावू की वकालत यद्यपि ज़ोरों पर थी किन्तु इससे भी अधिक गांधीजी का सम्पर्क और असर उनके ऊपर था। रिपोर्ट के निकलते ही देश में एक कड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और इसका नेतृत्व गांधीजी ने अपने हाथ में ले लिया। गांधीजी ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि यदि ये काले कानून हमारे ऊपर लादे गए तो हम इन्हें नहीं मानेंगे और सत्याग्रह करेंगे।

देश-भर में कोने-कोने में सभाएं की गईं जिनमें विरोध प्रदर्शित किया गया। यह उस काल के भारत की जागृति और नवजीवन का एक अपूर्व उदाहरण था। वड़ी-वड़ी सभाएं होतीं जिनमें सब वर्ग, जाति और धर्मों के जो वेशुमार लोग शामिल होते वह दृश्य भारतीय इतिहास का एक अपूर्व अवसर था। गांधीजी ने बिल पास होते ही अपने वायदे के अनुसार सत्याग्रह का कार्यक्रम वनाया।

गांधीजी ने उसी समय 'यंग इण्डिया' नामक एक पत्र निकाला जिसमें

प्रति सप्ताह सनसनी पैदा करनेवाले लेख वे लिखा करते थे। इस पत्र से सारे देश के लोगों को संगठित कर सत्याग्रह और अन्य वातों की जानकारी देने में गांधीजी को वड़ी सहायता मिलती थी। वापू ने विधिवत् अहिंसात्मक सत्याग्रह की घोषणा कर दी और इसके लिए समय भी निश्चित कर दिया। सत्याग्रह के अन्तर्गत प्रथम दिन उपवास, मन्दिरों और मस्जिदों में प्रार्थना व जुलूस निकालकर संध्या समय सार्वजनिक आम सभा द्वारा इन काले कानूनों के प्रति विरोध करने का कार्यक्रम था। सारे देश में सरकार-विरोधी सभाएं हुईं। हड़ताल भी इतनी ज़वर्दस्त हुई कि नगरों की तो कहे कौन, ग्रामों में किसानों तक ने उस दिन बैलगाड़ी और हल जोतना बन्द रक्खा। यद्यपि उस समय कांग्रेस का इतना व्यापक संगठन नहीं था, किन्तु सुदूरवर्ती गांवों तक सत्याग्रह का यह जो संदेश पहुंचा यह उस काल के भारतीय इतिहास में एक अद्भुत घटना हुई।

इस सत्याग्रह के कार्यक्रम को सफल वनाने के लिए विहार का नेतृत्व राजेन्द्र वावू करते रहे। राजेन्द्र वावू की श्री मजहरुलहक साहव और सैयद हसन इमाम संगठन आदि में सहायता करते रहे। गांधीजी ने सत्याग्रह के कुछ सख्त नियम वनाए थे जिनके अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही को एक प्रतिज्ञापत्र पर इस वात के लिए हस्ताक्षर करने होते थे कि पूर्णतः अहिंसा का पालन करते हुए सरकार के ऐसे कानूनों को न मानेंगे जिन्हें तोड़ने की आज्ञा एक मनोनीत कमेटी देगी और इसके लिए जो सज़ा होगी उसे खुशी के साथ भोगने के लिए तैयार होंगे। विहार के लिए यह प्रतिज्ञापत्र सर्वप्रथम राजेन्द्र वावू के पास आया और इसपर राजेन्द्र वावू ने तत्काल हस्ताक्षर कर दूसरे लोगों से भी हस्ताक्षर कराए।

सारे देश में सत्याग्रह का दौर दौरा था। पंजाव का जलियांवाला हत्याकाण्ड भी इसी बीच हो चुका था जिससे पंजाव की स्थिति वड़ी भयावह थी। गांधीजी इन समाचारों से दुःखी व चिन्तित थे। उन्होंने इस अवस्था में सत्याग्रह स्थगित करना उचित समझा और उसे वापस ले लिया। सत्याग्रह तो बन्द हो गया किन्तु पंजाव के काण्ड में लोगों पर जो जुल्म-ज़्यादतियां हुई थीं उससे सारे देश में जो उत्तेजना का वातावरण था वह कम नहीं हुआ। कांग्रेस ने इस वर्ष अपना वार्षिक अधिवेशन अमृतसर

में उस जगह जहां जलियांवाला काण्ड हुआ था करना तय किया और दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में पण्डित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस का यह अधिवेशन बड़ी शान से हुआ भी।

सन् १९२० की नागपुर कांग्रेस में गांधीजी के असहयोग कार्यक्रम को अन्तिम रूप दिया गया। असहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत गांधीजी ने जो बातें देश के सामने रखी थीं उनमें सरकारी खिताबों का त्याग, कौन्सिल-बहिष्कार, सरकारी शिक्षालयों से सम्बन्ध-विच्छेद, अदालतों का बहिष्कार आदि प्रमुख थीं। उसके बाद क्रमशः सरकारी नौकरी छोड़ना तथा कर-बन्दी आदि के कार्यक्रम लागू किए गए। इसके साथ ही शिक्षा के लिए गैर-सरकारी राष्ट्रीय शिक्षालयों की स्थापना, आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए पंचायतों की स्थापना, चर्खा-प्रचार और विदेशी वस्त्र बहिष्कार के कार्यक्रम अपनाए गए। असहयोग के इस समूचे कार्यक्रम में हिन्दू-मुस्लिम संगठन और अहिंसा पर सर्वाधिक ज़ोर दिया गया।

एक ओर सारे देश में असहयोग का कार्यक्रम पूरे ज़ोर-शोर से चल पड़ा। राजेन्द्र बाबू के नेतृत्व में बिहार के असंख्य कार्यकर्त्ता स्वराज्य और असहयोग के संदेश को गांव-गांव पहुंचाने में जुट गए। सारे बिहार में थोड़े ही दिनों में एक अपूर्व जागृति की लहर दौड़ गई। एक ओर असहयोग का यह कार्यक्रम ज़ोर पकड़ रहा था और दूसरी ओर सरकार का दमन चक्र भी पूरी तेज़ी के साथ चल रहा था। यद्यपि कांग्रेस की ओर से कार्यकर्ताओं को स्पष्ट आदेश दिए गए थे कि आन्दोलन पूर्णतः शान्तिमय और अहिंसात्मक रहे, किन्तु इसके बावजूद जहां-तहां उत्तेजना को बढ़ाने में सरकार का ही प्रमुख हाथ रहता। राजेन्द्र बाबू ने बिहार में इन दिनों एक तूफानी दौरा किया और यत्र-तत्र सार्वजनिक सभाएं कर उक्त आन्दोलन का सफल संचालन किया। गांधीजी भी इस बीच बिहार आए और बिहार के इस दौरे में उन्होंने खादी-प्रचार, शराबबन्दी तथा शिक्षा-प्रसार के कार्यक्रम को तेज़ी से लागू करने पर बल दिया।

जब देश में असहयोग का दौरा चल रहा था ब्रिटिश सरकार ने युवराज के भारत आगमन का कार्यक्रम घोषित कर दिया। नवम्बर के मध्य में युवराज बम्बई पहुंच भी गए। एक ओर सरकार की ओर से उनके

स्वागत की तैयारियां की गईं तो दूसरी ओर जनता की ओर से उनके वहिष्कार की। स्वागत तो सरकारी तौर पर हुआ ही, कुछ पारसियों ने भी इसमें भाग लिया, पर वहिष्कार जिसमें देश के हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे, बड़ा सफल रहा। इस बीच वम्बई में कुछ झगड़ा भी हुआ जिसने एक वलवे का रूप धारण कर लिया और जिसमें कोई ५०-६० आदमी मारे गए और लगभग ३०० से अधिक घायल भी हुए।

युवराज के भारत आगमन पर सारे देश में बड़ी खलवली मच गई। सरकार ने भी अपनी दमन नीति से काम लेने का निश्चय कर लिया था। और इसके परिणामस्वरूप चन्द दिनों के भीतर ही दिसम्वर में ही प्रायः देश के सभी भागों में कांग्रेस के वड़े-वड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इनमें देशबन्धुदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू और पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, मौलाना आज़ाद, श्री राजगोपालाचार्य आदि प्रमुख थे। इनके अलावा प्रादेशिक स्तर के अन्य हज़ारों नेता और कांग्रेस कार्यकर्ता भी गिरफ्तार किए गए। बिहार में भी गिरफ्तारियां हुईं। पटना में मौलवी खुरशैद हसनैन, वावू जगतनारायण लाल और कृष्णप्रकाश सेन-सिंह गिरफ्तार हुए। और स्थानों से मौलवी मुहम्मद शफी, वावू श्रीकृष्ण-सिंह, बावू विन्ध्येश्वरी वर्मा, बावू रामनारायणसिंह इत्यादि गिरफ्तार कर जेल भेज दिए गए। राजेन्द्र बावू यद्यपि अपनी गिरफ्तारी का इन्तज़ार कर रहे थे पर वे नहीं हुए और गिरफ्तारियां वन्द हो गईं।

इस वीच राजेन्द्र वावू अपना अखिल भारतीय महत्त्व का स्थान तो वना ही चुके थे; चम्पारन में गांधीजी के साथ रहने व रैयतों को नीलवरों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के अपने पुरजोश प्रयत्नों के कारण बिहार के गांधी वन चुके थे। इसी समय राजेन्द्र वावू ने सन् १९१८ में विहार के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक 'सर्चलाइट' की स्थापना की, एक हिन्दी साप्ताहिक 'देश' का प्रकाशन किया तथा बिहार विद्यापीठ की स्थापना की। वे गया कांग्रेस अधिवेशन के स्वागतमन्त्री बने तथा गंगा की भयंकर बाढ़ में जो सहायता आदि कार्य किए उनके कारण अपनी लोकप्रियता का सिक्का जमा लिया था।

राजेन्द्र बावू हिन्दी प्रेम के लिए प्रारम्भ से ही प्रसिद्ध थे अतः अखिल

भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने १९२४ में अपने कोकोनाडा अधिवेशन में उन्हें सभापति बनाया। इसके बाद भी वह सन् १९२६ में बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन दरभंगा के तथा १९२७ में संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कांगड़ी अधिवेशन के सभापति बने। सन् १९२७ में राजेन्द्र बाबू ने श्रीलंका की यात्रा की और इसके बाद सन् १९२८ में इंगलैंड तथा यूरोप के अन्य देशों का एक व्यापक भ्रमण कर युद्ध के विरुद्ध शान्ति प्रचार किया।

राजेन्द्र बाबू गांधीजी के अन्यतम शिष्यों में से प्रथम थे। वे गांधीजी के किसी कार्यक्रम अथवा आदेश का बिना नुक्ताचीनी अथवा तर्क-वितर्क के एक सैनिक की भांति अनुसरण करते थे और उसे मूर्त्त रूप देने में जी-जान से जुट जाते थे। राजेन्द्र बाबू की यह आस्था कोई अन्धानुकरण नहीं थी, अपितु अनेक बार के प्रयोगों के बाद वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि गांधीजी के अधिकांश निर्णय दूरगामी दृष्टिकोण से प्रेरित होते थे और अन्ततोगत्वा उनके निर्णयों का परिणाम कल्याणदायी ही होता था। उदाहरण के लिए, सत्याग्रह के समय 'चौरी-चौरा' गांव में जनता और पुलिस के बीच जो मुठभेड़ हुई और जिसमें जनता ने आवेश में आकर पुलिस थाने को जला दिया और कुछ पुलिस कर्मचारियों को भी मार डाला इससे गांधीजी को जो पीड़ा हुई, उसके परिणामस्वरूप उन्होंने सत्याग्रह स्थगित करने की जो घोषणा की, उसे प्रायः कांग्रेस के उस काल के चोटी के नेताओं ने भी पसन्द नहीं किया था। बहुतों ने सत्याग्रह स्थगित किए जाने के गांधीजी के निर्णय का विरोध किया था, और इसके विरोध में गांधीजी को पत्र भी लिखे थे। राजेन्द्र बाबू यह निर्णय किए जाने के समय गांधीजी के पास ही थे। जब गांधीजी ने इस सम्बन्ध में राजेन्द्र बाबू की राय मांगी तो पहले तो राजेन्द्र बाबू चुप हो गए परन्तु जब गांधीजी ने सत्याग्रह स्थगित किए जाने का कारण और उसके कुछ दूरगामी परिणामों की जानकारी उन्हें दी तो राजेन्द्र बाबू ने दृढ़तापूर्वक गांधीजी के निर्णय का समर्थन किया।

सन् १९३० के नमक सत्याग्रह में राजेन्द्र बाबू ने बिहार में पंडित जवाहरलालजी का एक व्यापक दौरा करवाया। इसके बाद स्वयं भी नमक

सत्याग्रह के लिए सारे बिहार में पुरजोश प्रयत्न कर आन्दोलन को सफल बनाया। नमक सत्याग्रह के अलावा मद्य निषेध और विदेशी वस्त्र बहिष्कार के कार्यक्रम भी इस सत्याग्रह के अंग थे। इनके क्रियान्वय में राजेन्द्र बाबू ने देश के अन्य भागों की भांति अपने प्रदेश में भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इस सत्याग्रह में अपने अन्य साथियों के साथ राजेन्द्र बाबू भी सर्वप्रथम गिरफ्तार किए गए। बीहपुर के सत्याग्रह में तो पुलिस के एक जत्थे द्वारा, जो सत्याग्रहियों पर लाठी चार्ज करता आगे बढ़ रहा था, राजेन्द्र बाबू बुरी तरह पीटे गए जिससे वे घायल हो गए।

गांधीजी के गोलमेज़ कान्फ्रेंस, लन्दन से बम्बई वापस पहुंचने पर सरकार का दमन चक्र फिर तेजी से चल पड़ा। राजेन्द्र बाबू भी इस समय गांधीजी से मिलने बम्बई गए थे। बम्बई में गांधीजी के स्वागत की अभूतपूर्व तैयारी थी। जिन रास्तों से उनको निकलना था वे रास्ते और उनके सब मकान जनसमूह से भरे हुए थे। पं० जवाहरलालजी, जो गांधीजी से मिलने बम्बई आ रहे थे, प्रयाग स्टेशन से थोड़ी ही दूर पर उतारकर गिरफ्तार कर लिए गए थे। अन्य प्रदेशों में भी ज़ोर-शोर से गिरफ्तारियां शुरू हो गईं। राजेन्द्र बाबू बम्बई में गांधीजी से भेंट कर पटना लौटे और यहां पहुंचते ही कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक की।

बैठक सदाकत आश्रम में हो रही थी। बैठक समाप्त होने के कुछ देर बाद ही पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट कई सशस्त्र सिपाहियों के साथ आ धमके और आश्रम को घेर लिया। उन्होंने राजेन्द्र बाबू और उनके साथियों को सरकारी विज्ञप्ति दिखाई और राजेन्द्र बाबू को उनके साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया गया और बांकीपुर जेल ले जाया गया।

राजेन्द्र बाबू के गिरफ्तार होने से यद्यपि बिहार का आन्दोलन कुछ धीमा पड़ गया फिर भी कानून भंग का कार्यक्रम चलता ही रहा। सरकार की ओर से जुलूस और सभाओं आदि की मनाही थी, अतः कानून भंग की लोगों की प्रतिज्ञा और प्रवृत्ति के कारण जहां-तहां जुलूस निकलते और सभाओं का आयोजन किया जाता, परिणामस्वरूप लोगों पर लाठियां चलतीं और यत्र-तत्र गोलियां भी चलीं। सरकार का दमन चक्र ज्यों-ज्यों बढ़ता, आन्दोलन उतना ही गतिशील और प्रभावशाली होता गया। सभी

कांग्रेस कमेटियों के मकानों पर सरकार ने कब्ज़ा कर लिया था, लोग उन पर धावा बोलते, सदाकत आश्रम पर भी रोज़ धावे होते रहे। यहां लगे यूनियन जैक को लोगों ने झुका दिया। सरकार के इस दमन में मुंगेर ज़िले के तारापुर और वेगूसराय में वहुत लोग पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। एक विद्यार्थी ने गोली से घायल हो मरते वक्त ये शब्द कहे—"मैं स्वराज्य के लिए मर रहा हूं, लोकमान्य तिलक के पास पहुंचकर सन्देश कहूंगा।"

राजेन्द्र वाबू और उनके साथियों पर जेल में ही मुकदमा चलाया गया और छः-छः महीने की सज़ा दी गई। कुछ देर वाद बांकीपुर से हज़ारीवाग जेल में ले जाया गया जहां राजेन्द्र बाबू ने अपनी मियाद पूरी की। अपने छः माह के इस जीवन में राजेन्द्र बाबू चर्खा चलाते तथा रामायण, कुरान शरीफ, वौद्ध धर्म की पुस्तकें तथा वाइबिल आदि धर्म-ग्रन्थ पढ़ते रहे।

राजेन्द्र वावू को जेल से छूटे छः महीने ही बीते थे कि पुनः जेलयात्रा करनी पड़ी। इस समय राजेन्द्र वावू कांग्रेस के डिक्टेटर (सभापति) समझे जाते थे। इस बार की जेलयात्रा में राजेन्द्र वावू के साथ आचार्य कृपलानी और राजेन्द्र वावू के साथी वावू मथुराप्रसादजी थे। इस वार राजेन्द्र वावू को पन्द्रह महीने की, कृपलानीजी को अठारह महीने की और मथुरा वावू को छः महीने की सज़ा हुई।

राजेन्द्र बाबू दमे के रोगी थे और जीवन-पर्यन्त इस व्याधि से ग्रसित रहे। इस वार के उनके जेल-जीवन में यह व्याधि वढ़ गई और इसने एक सख्त वीमारी का रूप धारण कर लिया। दमे खांसी के साथ दस्तों की शिकायत वढ़ गई। शरीर इतना निर्बल हो गया कि अनेक वार तो शरीरान्त तक की आशंका हो जाती। इस वार अपेक्षाकृत पहले के जेल में सख्ती भी थी। नियम कड़े कर दिए गए थे। सरकार की ओर से पटना अस्पताल में इलाज की व्यवस्था हुई और पुलिस के पहरे में इलाज होने लगा। कुछ दिनों वाद वड़ी मुश्किल से स्वास्थ्य में सुधार आरम्भ हुआ और स्वास्थ्य लाभ हो ही रहा था कि अचानक सरकार ने पुनः बांकीपुर जेल में वापस भेज दिया। वांकीपुर जेल में आने पर कुछ दिनों बाद राजेन्द्र वावू की वीमारी फिर वढ़ने लगी और एक दिन तो अचानक इतनी

वढ़ गई कि प्राण संकट में पड़ गए। जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट और सिविल सर्जन को फोन किया गया। उसने आकर दवा आदि दी। कुछ सुधार तो हुआ पर स्थायी नहीं, अतः सिविल सर्जन की राय के मुताविक राजेन्द्र वावू को फिर अस्पताल भेजने का निर्णय हुआ। इसपर राजेन्द्र वावू ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि इस प्रकार जेल से अस्पताल और अस्पताल से जेल आना-जाना मैं वर्दाश्त नहीं कर सकता, जो होना होगा यहीं होगा। स्मरण रहे, पटना अस्पताल से विना पूर्ण स्वस्थ हुए ही सरकार ने उन्हें पुनः वांकीपुर जेल में भेज दिया था। अतः इस वार राजेन्द्र वावू को सरकार की ओर से यह आश्वासन मिल गया कि जब तक उन्हें पूर्ण आराम न हो जाए और डाक्टर लोग राय न दे दें, उन्हें अस्पताल में ही रखा जाएगा। इस प्रकार वीमारी की भयंकर स्थिति में राजेन्द्र वावू को पुनः अस्पताल भेजा गया। अस्पताल में इलाज प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः स्वास्थ्य लाभ होने लगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वार राजेन्द्र वावू को पन्द्रह महीने की कैद थी, कोई एक वरस से ऊपर हो चुका था, डेढ़-दो महीने वाकी रह रहे थे, कुछ-कुछ कानाफूसी भी इस प्रकार की चली कि वीमारी की इस हालत में उन्हें सरकार रिहा कर देने की सोच रही है। राजेन्द्र वावू को भी यह वात मालूम हुई। वीमारी की भयंकर स्थिति में राजेन्द्र वावू के मन में जेल से रिहा होने की वात नहीं उठी थी और उस हालत में भी सरकार ने उनके पारिवारिकों और मित्रों आदि से मिलने में जो सख्ती वरती थी उसका ख्याल कर राजेन्द्र वावू मन ही मन विचार करने लगे कि अब जब उन्हें स्वास्थ्य लाभ हो रहा है तव सरकार का यह मुफ्त का एहसान लेने का क्या फायदा। राजेन्द्र वावू अभी यह विचार कर ही रहे थे कि अचानक उनकी चारपाई ज़ोरों से हिलने लगी, तत्क्षण ही उन्हें मालूम हो गया कि यह भूकम्प है। राजेन्द्र वावू तत्काल अपनी चारपाई से उठे और वाहर मैदान में जाकर खड़े हो गए। वाहर भी धरती इतने ज़ोर से डोल रही थी कि आदमी का स्थिर रहना कठिन था। आवाज़ भी इतने ज़ोर की और भयानक थी कि जान पड़ता ज़मीन के नीचे एक साथ कई रेलगाड़ियां दौड़ रही हैं। राजेन्द्र वावू के पास अब तक अस्पताल के कुछ अन्य मरीज़ भी आकर खड़े हो चुके थे। मैदान में चरते

पशु भी भूकम्प की आवाज़ों और ज़मीन के हिलने के कारण शरणागत भाव से पूंछ उठा-उठा दौड़कर इन लोगों के पास आकर खड़े हो गए, पर ज़मीन तो अभी हिल ही रही थी और आवाज़ें भी वही हो रही थीं अत: उक्त पशु इस प्राकृतिक प्रकोप से इस तरह यहां से वहां और वहां से यहां पूंछ उठा-उठाकर दौड़ते भागते थे कि वह दृश्य देखते ही वनता। इसी वीच नर्सों के रहने का एक दुमंज़िला मकान धड़ाम से गिरा तथा अस्पताल के कुछ हिस्से भी इस भूकम्प के कारण धराशायी हो गए। लगभग साढ़े चार मिनट तक भूकम्प जारी रहा। इसके बाद रात में भी दो बार फिर भूकम्प आया, उसी प्रकार ज़ोर का।

इस भूकम्प ने न केवल पटना, विहार के एक विस्तृत क्षेत्र में विप्लव की स्थिति ला दी थी। राजेन्द्र वावू को सरकार ने रिहा कर दिया और उनके ऊपर से सारी पावन्दियां हटा लीं। किन्तु अस्वस्थता के कारण राजेन्द्र बाबू लगभग दस दिन तक और अस्पताल में ही रहे।

राजेन्द्र बावू को अस्पताल में ही जो समाचार मालूम हुए उनसे यह उन्हें भली भांति ज्ञात हो गया कि भूकम्प के इस प्रकोप से विहार में जन-धन की अपार क्षति हुई है। राजेन्द्र वावू, जो यद्यपि शारीरिक दृष्टि से अशक्त थे, मानवता की इस व्यथा से बुरी तरह व्यथित हो गए और इस अकस्मात् आ पड़ी विपत्ति के समय अपनी सेवाएं अर्पित करने को तड़प उठे। उन्होंने तत्काल अस्पताल से ही अपने मित्रों के सहयोग से भूकम्प-पीड़ितों की सहायतार्थ कार्यारम्भ किया, जिसे प्रदेश और देश का व्यापक समर्थन मिला। कुछ समय वाद जब वे कुछ स्वास्थ्य लाभ कर अस्पताल से लौटे भूकम्पपीड़ित सारे क्षेत्र का दौरा किया और पीड़ितों को सहायता और सान्त्वना दी। उन्होंने अपने अधीन 'विहार सेण्ट्रल रिलीफ कमेटी' की स्थापना की जिसके जरिये धन-संग्रह तथा उसके सदुपयोग की एक व्यापक योजना वनाई गई। इस अवसर पर सरकार ने भी धन-संग्रह के लिए एक अपील निकाली, किन्तु राजेन्द्र वावू की कमेटी ने व्यवस्थित और व्यापक स्तर पर इस समय पीड़ितों की जो सेवा और सहायता की वह उनके सार्वजनिक जीवन की एक वेजोड़ कहानी वन गई। इस अवसर पर महात्मा गांधी, सेठ जमनालाल वजाज, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य

कृपलानी आदि अनेक नेताओं ने भी विहार आकर भूकम्प-क्षेत्र का निरीक्षण किया और सहायता-कार्य को आगे बढ़ाया।

विहार सदा से ही देश का एक गरीब प्रदेश माना जाता रहा है। इस गरीबी के साथ प्रायः जब-तब बाढ़ और भूकम्प आदि के प्राकृतिक प्रकोप भी होते रहे हैं। किन्तु १६३४ के इस प्रलयकारी भूकम्प ने तो मानो विहार के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को तहस-नहस ही कर डाला। इसका असर सारे देश पर पड़ा और विहार तो इस बुरी तरह वर्बाद हुआ कि इसे पनपने में वर्षों लग गए।

१६३४ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन वम्बई में होनेवाला था। राजेन्द्र वावू ही इसके अध्यक्ष चुने गए थे। इस बीच राजेन्द्र वावू के भाई महेन्द्र-प्रसादजी का देहावसान हो चुका था जिसके कारण राजेन्द्र वावू वहुत दुखी थे और उनके ऊपर सीधे पारिवारिक ज़िम्मेदारी भी आ पड़ी थी। इस ज़िम्मेदारी में सबसे चिन्तनीय स्थिति राजेन्द्र वावू का ऋणग्रस्त होना था। सार्वजनिक जीवन के इस लम्बे दौर में राजेन्द्र वावू की आर्थिक स्थिति विगड़ गई थी और परिवार पर कर्ज़ हो गया था। यद्यपि भाई के रहते वे इस स्थिति से वेखवर ही रहे, किन्तु उनके उठते ही जैसे ही उनपर परिवार का दायित्व आया, यह कर्ज़भार भी सीधा उनके ऊपर आ पड़ा। इस सब स्थिति से राजेन्द्र वावू वहुत परेशान थे और इन दिनों केवल एक ही चिन्ता सता रही थी कि किसी तरह साहूकारों के कर्ज़ से मुक्ति मिल जाए। कर्ज़ इतना अधिक था कि यदि अपनी सारी ज़मींदारी भी उस कर्ज़ के वदले में वे साहूकारों को दे दें तो भी पूरा कर्ज़ पट जाना सम्भव नहीं दीखता था। यद्यपि वे चाहते यही थे कि यदि सारी जायदाद देने पर भी कर्ज़ से मुक्ति मिल सकती हो तो वह उन्हें हितकर और स्वीकार्य था। राजेन्द्र वावू ने अपने साहूकारों से यह प्रस्ताव किया भी, किन्तु राजेन्द्र वावू के परिवार की, उनके वड़े भाई की तथा उनकी स्वयं का व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा ऐसी थी कि साहूकार लोग पूरी जायदाद लेकर कर्ज़ वसूल करना अनुचित समझते थे और एक ऐसे मार्ग की तलाश में थे जिसमें उनका रुपया भी वसूल हो जाए और राजेन्द्र वावू के साथ भी अन्याय न हो।

राजेन्द्र बावू अपनी इन पारिवारिक परेशानियों के कारण कांग्रेस-

अध्यक्षता का भार उठाने में कुछ आगा-पीछा कर रहे थे कि गांधीजी ने महादेव देसाई से एक पत्र लिखवाया कि बिहार के भूकम्प के समय उन्होंने जो सेवाएं की हैं उनका सारे देश पर बहुत असर पड़ा है और उनकी इस सेवा के काम से सन्तुष्ट होकर कांग्रेस और देश की जनता उन्हें सभापति बनाकर अपना आदर, विश्वास और सम्मान व्यक्त करना चाहती है, अतः उन्हें यह भार उठाना ही चाहिए। कर्ज़ के सम्बन्ध में भी कोई मार्ग खोजने की बात राजेन्द्र बाबू को गांधीजी ने लिखवाई। अन्ततोगत्वा गांधीजी की आज्ञानुसार राजेन्द्र बाबू ने कांग्रेस अध्यक्ष होना स्वीकार कर कर लिया।

राजेन्द्र बाबू का पारिवारिक जीवन बड़ा ही मर्यादित और परिवार-जीवन की परम्परा के अनुसार प्रथम पंक्ति का जीवन रहा है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, क्या बच्चे और क्या बूढ़े, सभी पारिवारिक जीवन के उच्चादर्श और मान्यताओं में बंधे रहे हैं और आज भी बंधे हैं। इसका श्रेय राजेन्द्र बाबू के दादा चौधुरलालजी, राजेन्द्र बाबू के पिता महादेव-सहायजी, भाई महेन्द्रप्रसादजी, स्वयं राजेन्द्रबाबू, परिवार की महिलाओं और राजेन्द्र बाबू के लड़कों को है। अच्छे और बुरे सभी दिन राजेन्द्र बाबू के परिवार को देखने पड़े, पर पारिवारिक मर्यादाओं का उल्लंघन परिवार के किसी भी बड़े, बूढ़े, स्त्री, पुरुष अथवा बच्चे ने भी कभी नहीं किया। यही परम्परा जारी रही और इस परम्परा के कारण ही राजेन्द्र बाबू कर्जभार से मुक्त होने में समर्थ हुए और अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रख सके।

आखिर अक्तूबर १९३४ में कांग्रेस का बम्बई अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति के रूप में बम्बई की जनता ने राजेन्द्र बाबू का अभूतपूर्व स्वागत किया। एक चार घोड़ी की गाड़ी पर सभापति का जुलूस निकाला गया, जो लगभग तीन घंटे तक शहर के विभिन्न प्रमुख मार्गों से घूमकर कांग्रेस नगर में जाकर समाप्त हुआ। इस अवसर पर शहर खूब सजाया गया था और अपार जनसमूह, जो मार्गों के दोनों ओर तथा मकानों और ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं से सभापति के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान व्यक्त कर रहा था, राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व के साथ ही उस काल

की जग-जागृति का प्रतीक बन गया था।

अधिवेशन बहुत सफल रहा। इस अधिवेशन में एक विशेप बात यह हुई कि गांधीजी ने अधिवेशन के कुछ समय पूर्व जो एक वक्तव्य दिया था कि वे कांग्रेस से अलग हो जाएंगे और उसकी जो सेवा-सहायता वे कर सकते हैं, अलग रहकर करेंगे, गांधीजी का कांग्रेस से पृथक् होने का यह प्रश्न सारे अधिवेशन में चिन्ता और चर्चा का विषय बना रहा। सारे देश में गांधीजी के कांग्रेस से अलग होने के इस विचार से खलबली मची हुई थी। एक ओर कुछ लोग उनके निर्णय के इसलिए पक्ष में थे कि उनके कांग्रेस से हट जाने पर जो कांग्रेस के दूसरे नेता हैं उन्हें राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में सोचने, समझने और स्वयं निर्णय करने का अवसर मिलेगा और उनकी क्षमता बढ़ेगी। चूंकि, गांधीजी के रहते लोग उनकी सूझ-बूझ, दूरदर्शिता और समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें एकमात्र अवलम्ब के रूप में देखने के अभ्यस्त हो चुके थे अत: उनका कांग्रेस से हटना कांग्रेस और देशहित दोनों ही दृष्टियों से लाभदायी होगा। फिर आवश्यकता पड़ने पर गांधीजी का पथ-प्रदर्शन, सहयोग और सहायता का आश्वासन गांधीजी दे चुके थे, इससे उनका कांग्रेस से अलग होने पर भी अभाव नहीं खटकेगा। इन विचारों के विपरीत ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं थी जो गांधीजी को पूर्ववत् कांग्रेस से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उनपर दबाव डालते रहे और उनके अलग होने का निर्णय कांग्रेस और देश के हित के लिए अनिष्ट-कर मानते थे। ऐसे लोगों का विचार था कि गांधीजी ने रुष्ट होकर ही यह निर्णय लिया है। इस पक्ष-विपक्ष की चर्चा और दबाव के बावजूद गांधीजी अपने निर्णय पर अडिग रहे और राजेन्द्र बाबू ने, जो गांधीजी की विचार-धारा से भली भांति परिचित थे, गांधीजी के उक्त निर्णय का इसी विचार से समर्थन भी किया कि गांधीजी के कांग्रेस से अलग होने से, ऐसी हालत में जबकि वे पूर्ववत् सहायता का वचन भी दे रहे हैं. कांग्रेस और देश को लाभ मिलेगा,शक्ति बढ़ेगी। ऐसा ही हुआ भी। राजेन्द्र बाबू ने अपने सभापतित्व-काल में गांधीजी को कांग्रेस के प्रतिदिन के काम से प्राय: मुक्त कर दिया और वर्किंग कमेटी तथा अखिल भारतीय कमेटी की बैठकों में भी आने का उन्हें कष्ट नहीं दिया। जब-जब किसी बात पर गांधीजी की सलाह और

सहायता की आवश्यकता हुई राजेन्द्र बाबू ने वर्धा जाकर उनसे राय-सलाह ली और सदा की भांति गांधीजी ने भी अपनी राय-सलाह द्वारा उन्हें लाभान्वित किया।

उल्लेखनीय है कि कांग्रेस अध्यक्ष होने के बाद हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या पर दिल्ली में मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच समझौते के लिए श्री जिन्ना से राजेन्द्र बाबू की बातचीत आरम्भ हुई। यद्यपि यह बातचीत काफी समय तक चली और अन्ततोगत्वा असफल हुई, किन्तु उस काल के अग्रगण्य नेताओं में राजेन्द्र बाबू ही ऐसे व्यक्ति थे जिनसे श्री जिन्ना ने बातचीत करना पसन्द किया।

राजेन्द्र बाबू ने अपने सभापतित्व के इस काल में समूचे देश का एक व्यापक दौरा किया, जो अब तक किसी पूर्व सभापति ने नहीं किया था। राजेन्द्र बाबू द्वारा कायम की गई इस परम्परा को पं० जवाहरलाल नेहरू ने, जो राजेन्द्र बाबू के बाद दूसरी बार कांग्रेस के सभापति चुने गए, कायम ही नहीं रखा, अपनी शक्ति और कार्यक्षमता से इसे और भी आगे बढ़ाया।

राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व-काल में ही कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती मनाई गई। जयन्ती यद्यपि देश-भर में मनाई गई पर प्रधान आयोजन बम्बई में हुआ। बम्बई में यह आयोजन उस स्थल पर किया गया जहां कांग्रेस का पहला अधिवेशन सन् १८८५ के दिसम्बर में हुआ था। उस समय बम्बई के सर दिनसा वाचा, जिन्होंने कांग्रेस के इस प्रथम अधिवेशन में भाग लिया था और बाद में जो स्वयं कांग्रेस के सभापति भी बने, जीवित थे। राजेन्द्र बाबू ने सर्वप्रथम सर दिनसा के, जो उस समय बीमार थे, उनकी बेहोशी की हालत में ही दर्शन किए। बम्बई में और देश में सर्वत्र ही कांग्रेस की यह स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम और उत्साह के साथ मनाई गई। इसी वर्ष ब्रिटिश बादशाह जार्ज पंचम के भी शासन के पच्चीस वर्ष पूरे हुए थे और उसके लिए अंग्रेज़ सरकार की ओर से रजत जयन्ती मनाई गई थी, अत: कांग्रेस और देशवासियों के दिल में एक स्पर्द्धा की भावना भी थी कि राष्ट्रीय महासभा की स्वर्ण जयन्ती अपेक्षाकृत अंग्रेज़ सरकार की रजत जयन्ती के खूब शान-शौकत से मनाई जाए। स्पर्द्धा की इसी भावना के कारण देश ने कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूम-धाम से मनाकर एक बार फिर अंग्रेज़ सरकार

को यह साबित कर दिया कि देश की जनता का प्रेम और श्रद्धा कांग्रेस के साथ है।

दो साल बाद सन् १९३६ में कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन हुआ जिसके सभापति पं० जवाहरलालजी चुने गए। अनेक दृष्टियों से लखनऊ कांग्रेस बहुत महत्त्वपूर्ण रही। देश में कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी का जन्म हो गया था। जवाहरलालजी की भी सहानुभूति समाजवादी पार्टी को प्राप्त थी। लखनऊ कांग्रेस के पूर्व दिल्ली में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक हुई थी जिसमें अनेक बातों में राजेन्द्र बाबू और जवाहरलालजी का मतभेद हो गया था। पंडितजी के साथ अपने मतभेद का ज़िक्र करते हुए स्वयं राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

"दिल्ली की बैठक में हमने देखा कि कई विषयों पर उनका और मेरा मतभेद है। यह मतभेद कार्यक्रम के सम्बन्ध में उतना नहीं होता जितना दृष्टिकोण के सम्बन्ध में। हम दोनों यदि किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक राय भी रखते तो उस नतीजे पर हम दो रास्तों से पहुंचे होते। यदि एक ही बात को कहना भी चाहते तो उसे दो प्रकार की भाषा में कहते। यदि एक ही रास्ते पर चलना भी चाहते तो दो प्रकार की सवारियों पर चलना चाहते। यदि एक ही प्रस्ताव करना चाहते तो उसकी अलग-अलग भूमिका बनाते।"

लखनऊ कांग्रेस के समय अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं उपस्थित हुईं। इनमें कांग्रेस के कौंसिल प्रवेश का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा। कुछ लोग कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे, कुछ इसके विपक्ष में। यदि कांग्रेस सुधार-सम्बन्धी ब्रिटिश कानून के अनुसार कौंसिलों में न जाए तो प्रश्न यह उठता था कि क्या वह दूसरों को भी चुनाव में भाग लेने अथवा कौंसिलों में जाने से रोकेगी? अथवा किसी दूसरे प्रश्न से अड़ंगा नीति अपनाकर उस विधान को बेकार करेगी? दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उठा वह था लड़ाई के समय ब्रिटिश सरकार की सहायता करना अथवा उसके विरुद्ध अपना मत प्रदर्शित करना। स्मरण रहे, इस अवसर पर यूरोप में युद्ध का वातावरण पैदा हो गया था और इटली ने अबीसीनिया पर चढ़ाई करके उसे हड़पने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इंगलैंड की सहानुभूति अबीसीनिया के साथ थी और उसने इटली की आर्थिक नाकेबन्दी करना आरम्भ

कर दिया था। युद्ध के इस वातावरण में कांग्रेस में इन विचारों में काफी मतभेद था। यह मतभेद स्पष्टतया किसी बात के पक्ष-विपक्ष में न होकर अनेक बातों में दृष्टिकोण के सम्बन्ध में होता। राजेन्द्र बाबू का और जवाहरलालजी का भी उक्त बातों में कुछ इसी प्रकार का मतभेद था, जो आगे भी रहा, किन्तु यह मतभेद ऐसा नहीं था जिसके कारण साथ काम करना सम्भव न हो। जवाहरलालजी और अपने मतभेद का उल्लेख करते हुए राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

"जो हो, पं० जवाहरलालजी की राय हमारी राय से नहीं मिलती थी। पर अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में हम मानते थे कि वह हमसे कहीं अधिक जानकारी रखते हैं और उनके विचारों की हम बहुत कद्र करते थे। इसीलिए उनकी ही बात मान लेते।...

"हम लोग जवाहरलालजी की कार्यदक्षता, त्याग, परिश्रम और विचार-गाम्भीर्य के कायल थे, जिनसे अलग होना हम हरगिज़ किसी तरह पसन्द नहीं करते थे। वह भी समझते थे कि सूबों में काम करनेवालों और असर रखनेवालों में शायद हम लोग ज्यादा ज़बरदस्त थे, इसलिए वह भी हमको अलग करना या हमसे अलग होना नहीं चाहते थे। बात यह थी कि दोनों पक्ष परस्पर पूरा सम्मान का भाव रखते थे और जानते थे कि देश के लिए आपस की जुदाई हितकर नहीं होगी। शायद हम यह भी जानते और समझते थे कि हम एक-दूसरे की त्रुटियों को पूरा करते थे। हम यह भी समझते थे कि चाहे हममें कितना भी मतभेद हो, देश यह नहीं बरदाश्त करेगा कि हम एक-दूसरे से अलग हो जाएं।"

आगे राजेन्द्र बाबू ने जवाहरलालजी और गांधीजी के बीच मतभेद का ज़िक्र करते हुए जो विचार व्यक्त किए हैं उनका उल्लेख भी यहां अप्रासंगिक न होगा। वे लिखते हैं—

"...बहुत-सी बातों में गांधीजी से मतभेद होने पर भी वह (जवाहरलालजी) उनके नेतृत्व के महत्त्व को जानते और मानते थे, उसे किसी तरह कमज़ोर करना नहीं चाहते थे। यह बात दूसरों में नहीं थी। यही कारण था कि मतभेद होते हुए भी हम जवाहरलालजी के साथ काम कर सकते थे और दूसरों के साथ चलना कठिन हो जाता था...।"

लखनऊ कांग्रेस के समाप्त होते ही राजेन्द्र वावू अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की, जो नागपुर में हो रहा था, अध्यक्षता करने रवाना हो गए। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद के लिए राजेन्द्र वावू का यह निर्वाचन दूसरी वार हुआ था। नागपुर के इस सम्मेलन में राजेन्द्र वावू ने हिन्दी के प्रचार और विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक भाषण दिया। अपने इस भाषण में उन्होंने कहा कि हिन्दी को विदेशी शब्द ग्रहण करने में हिचकना नहीं चाहिए, भले ही ये शब्द फारसी, अरवी अथवा अंग्रेज़ी के हों, जो हिन्दी में आए वह उन्हें आत्मसात् कर लें; यानी उन्हें हिन्दी वन जाना चाहिए। राजेन्द्र वावू का मत था कि ऐसे शब्द हिन्दी में आकर अपने साथ अरवी-फारसी या अंग्रेज़ी का व्याकरण न लाएं वल्कि हिन्दी के व्याकरण के अधीन हो जाएं। उनका मत रहा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा वनते-वनते वहुतेरे ग्रामीण शब्दों को भी ग्रहण करना होगा और जो देश की प्रान्तीय भाषाएं हैं उनकी शब्दावली के भी वहुतेरे शब्द लेने होंगे। राजेन्द्र वावू का यह मत आज भी अपना स्थान रखता है और भाषा-समस्या के हल के लिए हमारा पथ-प्रदर्शन करता है।

नागपुर सम्मेलन के वाद सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की जिसके सभापति राजेन्द्र वावू चुने गए। राजेन्द्र वावू के सभापतित्व में और महात्मा गांधी के नीति-निर्देशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने एक ओर राष्ट्रभाषा के प्रचार तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए उस काल में बड़ा उपयोगी कार्य किया।

कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में राजेन्द्र वावू अव प्रथम पंक्ति के नेता माने जाने लगे थे, फिर गांधीजी के अत्यन्त निकटतम साथियों और अनुयायियों में तो प्रथम कोटि के। अतः कांग्रेस के और देश के ऐसे किसी भी मसले से जिसका राष्ट्रीय महत्त्व हो, राजेन्द्र वावू का निर्णायक सम्वन्ध रहता। सन् १९३९ की वड़ी कशमकश और उग्र वातावरण में त्रिपुरी कांग्रेस हुई। सुभाष बाबू अपने प्रतिद्वन्द्वी डा० पट्टाभिसीतारमैया को पराजित कर सभापति चुने गए। अनेक वातों में सुभाष बाबू और कांग्रेस के अन्य नेताओं में मतभेद बढ़ गया था और अन्ततः सुभाष वावू के साथ बहुमत न होने से विवश हो उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

सुभाष बाबू के सभापति पद से हटने के बाद गांधीजी की आज्ञानुसार राजेन्द्र बाबू ने इस पद-भार को संभालने की स्वीकृति दी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने उन्हें एकमत से सभापति चुन लिया।

राजेन्द्र बाबू के सभापति चुने जाने के बाद उनके सभापतित्व-काल में जो एक महान घटना घटी और जिससे कांग्रेस, राजेन्द्र बाबू और सुभाष बाबू तीनों की प्रतिष्ठा का सम्बन्ध है, उसका यहां उल्लेख करना अनावश्यक न होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, त्रिपुरी कांग्रेस से ही कांग्रेस वर्किंग कमेटी में मतभेद काफी बढ़ गया था और अन्ततः उसका परिणाम सुभाष बाबू का पदत्याग हुआ। इस मतभेद का इतिहास यहीं खत्म नहीं हुआ, बल्कि आगे भी बढ़ा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने एक निर्णय द्वारा समस्त कांग्रेस जनों को निर्देश दिया था कि कोई भी कांग्रेस जन किसी ऐसे क्रियात्मक कार्य में भाग न ले जिससे कांग्रेस तथा मन्त्रिमण्डलों की प्रतिष्ठा को ठेस लगे। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने कमेटी के इस निर्णय के विरुद्ध सारे देश में जबर्दस्त प्रदर्शन करने का आह्वान किया। यद्यपि कमेटी का उक्त निर्णय बहुत बड़े बहुमत से हुआ, किन्तु सुभाष बाबू उस निर्णय की अवहेलना करने पर तुल गए। सुभाष बाबू की उक्त घोषणा जब राजेन्द्र बाबू ने समस्त पत्रों में पढ़ी तो कांग्रेस के सभापति की हैसियत से श्री सुभाष बाबू को उन्होंने तार देकर अपना वक्तव्य और मन्तव्य वापस लेने के लिए कहा। सुभाष बाबू ने अपना मन्तव्य बदलने से इन्कार कर दिया। अब इस प्रश्न ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। एक ओर कांग्रेस संस्था का हित, मर्यादा और प्रतिष्ठा, दूसरी ओर सुभाष बाबू जैसा महान् व्यक्तित्व, जिनकी देशसेवा, निर्भीकता और त्याग के सभी कायल थे और तीसरी ओर राजेन्द्र बाबू स्वयं के दिल में उनके लिए प्रेम। ऐसे मामलों में सामान्य कांग्रेस जन पर साधारणतया अनुशासन की कार्यवाही करने का निर्णय किया जाता, यही बात सुभाष बाबू पर भी लागू होती थी, किन्तु सुभाष बाबू का जैसा प्रभावी और त्यागपूर्ण व्यक्तित्व था उस कारण उनपर अनुशासन की कार्यवाही किए जाने की बात सभीको खटकती थी। इस त्रिकोण संघर्ष में कांग्रेस सभापति की हैसियत से राजेन्द्र बाबू और उनके अन्य

साथी पड़े हुए थे। सुभाष बाबू की उक्त कार्यवाही से एकबारगी यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि क्या कांग्रेस के सारे संगठन को इस प्रकार से क्षति पहुं-चाने देना उचित है? और क्या अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के कारण कांग्रेस जैसी सार्वजनिक और सार्वदेशिक संस्था की प्रतिष्ठा पर चोट करने-वाले पर अनुशासन की कार्यवाही न की जाए? अन्ततोगत्वा निर्णय लिया गया और सभीने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को दबाकर कर्तव्य भाव से प्रेरित हो संस्था के हित की दृष्टि से बड़े दुःख के साथ सुभाष बाबू पर अनु-शासन की कार्यवाही करने का निर्णय किया और उन्हें एक अवधि के लिए कमेटी से निलंबित कर दिया। इस निर्णय में कांग्रेस सभापति की हैसियत से राजेन्द्र बाबू का प्रमुख हाथ रहा।

यूरोप का द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही एक बार फिर कांग्रेस के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि युद्ध की इस स्थिति में कांग्रेस का रुख क्या होगा। पं० जवाहरलाल नेहरू इस समय चीन गए हुए थे। गांधीजी वायसराय से मिले और बाद में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक वर्धा में बुलाई गई जो कई दिनों तक चली। राजेन्द्र बाबू बीमार थे। गांधीजी ने महादेवभाई देसाई को भेजा और जिस तरह भी हो राजेन्द्र बाबू को वर्धा लाने के लिए कहा। राजेन्द्र बाबू वर्धा पहुंचे। इसी बीच जवाहरलालजी भी आ गए। गांधीजी ने वायसराय से मुलाकात के बाद एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने इस युद्ध में इंगलैंड के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित कर बिना किसी शर्त इंगलैंड को सहायता करने की बात कही। गांधीजी का यही वक्तव्य वर्किंग कमेटी के विचार का एक विशेष मुद्दा बन गया। प्रश्न उठा, यह सहायता किस प्रकार की होगी? एक हिंसात्मक युद्ध में एक अहिंसा-त्मक संस्था किस प्रकार सहायता करेगी? बहुत विचार-विनिमय के बाद कमेटी ने एक प्रस्ताव बहुत ही संयत, सुन्दर और भावपूर्ण भाषा में, जिसका मसौदा पं० जवाहरलाल नेहरू ने तैयार किया था, पास किया जिसमें कहा गया कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध-सम्बन्धी अपने उद्देश्यों को स्पष्ट कर दे तो कांग्रेस युद्ध के इस अवसर पर हर प्रकार से इंगलैंड की सहायता करेगी। इस प्रस्ताव के बाद कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से राजेन्द्र बाबू गांधीजी, जवाहरलालजी और श्री जिन्ना के साथ उस समय के वायसराय लार्ड लिन-

लिथगो से मिले भी। इस सन् १९३५ में निर्मित नए विधान के अनुसार देश के सभी प्रांतों में मन्त्रिमण्डल काम कर रहे थे; इनमें ग्यारह में से आठ प्रदेशों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल थे। यद्यपि कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने उक्त स्पष्टीकरण के साथ युद्ध में अंग्रेज़ों की सहायता करने का निर्णय किया था किन्तु अंग्रेज़ों ने बिना उक्त स्पष्टीकरण दिए और बिना कांग्रेस के प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों और देश की अन्य किसी भी संस्था और व्यक्ति से पूछे ही हिन्दुस्तान को भी इस लड़ाई की लपटों में ले लिया। और इस प्रकार हिन्दुस्तान एक युद्धक्षेत्र बनता जा रहा था। कांग्रेस की मांग थी कि ब्रिटिश साम्राज्य परिवर्तित होकर एक सच्चे प्रजातन्त्र का रूप धारण कर ले और भारत तथा उन सभी देशों में प्रजातन्त्र की स्थापना कर दे जो ब्रिटिश साम्राज्य के पंजे में फंसे हैं। अंग्रेज़ कांग्रेस की इस मांग से इन्कार नहीं करते थे, वरन् उसका समर्थन भी करते थे, किन्तु उनका तर्क था कि भारत तथा दूसरे देश, जो उनके अधिकार में हैं, अभी इस योग्य नहीं हैं कि उन्हें स्वतन्त्रता दी जा सके। और अंग्रेज़ उनकी इस अयोग्यता के कारण अपना यह कर्तव्य समझते थे कि यह योग्यता आने तक शासन का भार अपने ऊपर रखें।

भारतवासी और विशेषकर कांग्रेस अंग्रेज़ों की इस बात से सहमत नहीं थी, अतः उसने ब्रिटिश सरकार से स्पष्ट शब्दों में लड़ाई के उद्देश्य के साथ ही भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में एक निश्चित और स्पष्ट योजना की मांग की जिसके अनुसार भारत को स्वतन्त्रता दी जा सके। अंग्रेज़ों की बहुत समय से चल रही इस चाल और बहानेबाज़ी का भण्डाफोड़ एक प्रकार से कांग्रेस की इस मांग से हो गया।

सन् १९३९ के नवम्बर से १९४२ तक ब्रिटिश सरकार की ओर से कांग्रेस को इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। अंग्रेज़ों का तो मकसद ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखना था, अतः कांग्रेस की इस मांग को वह क्योंकर पूरा करते ? अन्ततोगत्वा कांग्रेस ने निश्चय लिया कि ऐसी हालत में जबकि उसकी मर्जी के विरुद्ध बिना किसी आश्वासन के सरकार देश को ज़बर्दस्ती युद्ध में होम रही है, वह प्रदेशों में काम कर रहे अपने मन्त्रिमण्डलों को वापस बुला ले। अतः कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने

कांग्रेस के इस निर्णय के अनुसार त्यागपत्र दे दिए।

उधर युद्ध में जर्मनी एक पर एक देश हड़पता हुआ एक प्रभावी ढंग से चारों ओर अपना आतंक बढ़ा रहा था। इसी बीच जापान भी युद्ध में कूद पड़ा। ब्रिटेन यद्यपि युद्ध का बहादुरी से मुकाबला कर रहा था, किन्तु हालत दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही थी।

गांधीजी ने इंगलैंड की सहायता की जो बात कही थी वह नैतिक रूप में ही, क्रियात्मक नहीं। क्रियात्मक रूप से कुछ करना कांग्रेस के अपने अहिंसात्मक ध्येय के विपरीत था। यद्यपि कुछ लोग अहिंसा के सिद्धांत को सीमित और मर्यादित कर ब्रिटिश सरकार की सहायता करने के पक्ष में भी थे, किन्तु अधिकांश अहिंसा के सिद्धांत को कायम रखने के ही पक्षपाती थे। गांधीजी और राजेन्द्र बाबू अहिंसा के सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखना न केवल भारत वरन् संसार के लिए आवश्यक और हितकारी समझते थे। इसी बीच जब दिल्ली में वर्किंग कमेटी ने यह तय कर लिया कि यदि सरकार भारत की आज़ादी की घोषणा कर दे और तत्काल एक ऐसा कार्यक्रम लागू कर दे जिससे भारतीय नेताओं के हाथ में अधिकार आ जाएं तो कांग्रेस सरकार की सक्रिय सहायता कर लड़ाई में मदद देगी—कमेटी के इस निर्णय से असहमति व्यक्त करते हुए जिन व्यक्तियों ने उस वक्त वर्किंग कमेटी से त्यागपत्र दिया उनमें खान अब्दुल गफ्फार और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद मुख्य थे। राजेन्द्र बाबू के और भी कई साथी इसी प्रश्न पर कमेटी से अलग हो गए।

कांग्रेस और सरकार के साथ समझौते के कोई आसार न देख गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्यागह का कार्यक्रम बनाया और एक निश्चित कार्यक्रम के अन्दर उसे देशव्यापी स्तर पर आरम्भ कर दिया। पूर्व के सत्याग्रहों और इसमें एक विशेष अंतर था। वह यह कि सत्याग्रही का नाम गांधीजी की नज़रों से गुज़रता था और बिना उनकी स्वीकृति के कोई भी व्यक्ति सत्याग्रह नहीं कर सकता था। राजेन्द्र बाबू इन दिनों फिर अस्वस्थ हो गए थे, तो भी उन्होंने बिहार प्रान्त के सत्याग्रह का संचालन बड़ी कुशलता से किया और सारे प्रान्त में गांधीजी के नियम और निर्देशन के अनुसार सत्याग्रह चलता रहा।

युद्धस्थिति उत्तरोत्तर भयंकर होती चली गई। उधर जर्मनी रूस के

साथ भिड़ गया और जापान भी चीन के एक बहुत बड़े हिस्से को अपने काबू में कर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता जा रहा था। अमरीका यद्यपि खुले रूप से मैदान में नहीं उतरा था किन्तु वह हथियारों और जहाजों आदि से इंगलैंड की सहायता करता था। इसी बीच इंगलैंड के प्रधानमंत्री चर्चिल ने रूस से, जिसके अब तक वे बड़े विरोधी थे, दोस्ती कर ली।

युद्ध की इस भयंकर स्थिति में इंगलैंड ने हिन्दुस्तान के साथ कुछ तय करने की नीयत से सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को,जो इंगलैंड के राजदूत बनकर रूस गए थे और रूस को जर्मनी से भिड़ाने के अपने प्रयत्न में सफल हो पर्याप्त कीर्ति कमा चुके थे, अंग्रेज़ सरकार ने एक योजना के साथ भारत भेजा। दिल्ली में सर क्रिप्स ने गांधीजी, कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आज़ाद तथा पं० जवाहरलाल नेहरू आदि नेताओं से इस योजना पर बातचीत की। गांधीजी को क्रिप्स योजना से सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने सर स्टेफोर्ड से ऐसा कह भी दिया। इस बातचीत में मुस्लिम लीग भी शामिल रही और बहुत वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के बाद अन्त में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकृत कर दिया।

क्रिप्स योजना के नाकाम होने से अंग्रेज़ों के साथ कांग्रेस के सम्बन्ध और बिगड़ गए। फिर युद्धकालीन परिस्थिति में देश की स्थिति भी दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी। अंग्रेज़ सरकार युद्ध में भारत का भरपूर उप-योग कर रही थी और उसे एक सैनिक अड्डे का स्वरूप दे रही थी। ऐसी स्थिति में कांग्रेस के नेताओं के सामने अंग्रेज़ी साम्राज्य से मुक्ति के पूर्व वर्तमान युद्ध में, जिसमें जापान बराबर भारत की ओर बढ़ता आ रहा था, देश की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ।

देश की और युद्ध की इस भयानक स्थिति के सन्दर्भ में ८ अगस्त १९४२ की रात में १० बजे कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें गांधीजी के 'करो या मरो' मन्त्र के साथ देश को आह्वान किया गया।

कांग्रेस के इस निर्णय के साथ ही गांधीजी तथा वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। इधर पटना में सदाकत आश्रम से अस्वस्थ अवस्था में राजेन्द्र बाबू को गिरफ्तार कर बांकीपुर जेल पहुंचवाया गया। राजेन्द्र बाबू के गिरफ्तार होते ही बिहार में क्रान्ति की लहर दौड़

गई। पटना में ज़ोरों से प्रदर्शन होने लगा और बड़े-बड़े जुलूस निकलने लगे। कचहरियां बंद हो गईं। एक बहुत बड़ा जुलूस सेक्रेटेरिएट पर झण्डा चढ़ाने पहुंचा। सरकार का दमनचक्र तेज़ी के साथ चल पड़ा। लाठी चार्ज और गोली भी चली जिसमें आठ-नौ युवक शहीद हो गए। इससे उत्तेजना और बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप टेलीफोन आदि काटने का काम ज़ोरों से शुरू हो गया। सरकार की ओर से गिरफ्तारियां भी तेज़ी से हुईं जिससे जेलें ठसाठस भर गईं। इस बार राजेन्द्र बाबू लगभग तीन वर्ष जेल में रहे।

अनेक राजनैतिक उलट-फेर और परिवर्तनों के बाद २ सितम्बर, १९४६ को भारत में अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। इसमें १२ मन्त्री मनोनीत किए गए। डा० राजेन्द्रप्रसादजी भी इनमें से एक थे और वह कृषि और खाद्यमंत्री बनाए गए। इन दिनों देश में अन्न-संकट था। राजेन्द्र बाबू ने बड़ी कुशलता से देश को दुर्भिक्ष से बचा लिया और वह अन्न-संकट भी जाता रहा।

अन्तरिम सरकार कायम होने पर विधान परिषद् की स्थापना हुई और सर्वसम्मत से इसके राजेन्द्र बाबू ही अध्यक्ष चुने गए।

प्रथम राष्ट्रपति

भारत में गणतंत्र की स्थापना हमारे लिए कोई नया विचार नहीं था, अपितु प्राचीन काल में गणतंत्र होते हुए भी प्रजा की अनुमति से ही रामायण-काल के रामराज्य और महाभारत-काल के कौरव-पांडवों के राज्य चलते थे और इस अनुमति को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग निश्चित हुए थे। आगे चलकर बौद्धकाल में लिच्छिवियों, मद्रकों और वज्जियों आदि के गणतंत्रों में तो राजा का अस्तित्व ही नहीं रह गया था और इन गणतंत्रों में प्रजा की मतगणना जिस पद्धति से होती थी उसपर न जाने कितना लिखा जा चुका है। इसके बाद राजतंत्र का युग आया। सिकंदर के हमले के समय चाणक्य ने इन छोटे-छोटे गणराज्यों की समाप्ति कर भारत को एक सूत्र

में बांधकर चन्द्रगुप्त मौर्य को भारतीय सम्राट बना एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। राजतंत्र का युग शताब्दियों तक चला। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद प्रियदर्शी अशोक का साम्राज्य आया। मौर्यवंश की समाप्ति के पश्चात् अनेक राजवंशों ने राज्य किया। मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् पठानों और मुगलों का राज्य चला और इसके बाद अंग्रेज़ी राज्य के समय भारत पुनः एक विशाल राज्य के रूप में संगठित हुआ। परन्तु चाणक्य के पश्चात् अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना तक फिर इस देश ने गणतंत्र नहीं देखा था। ब्रिटिश राज्य से छुटकारा मिलने पर हम इस देश में पुनः गणतंत्र की स्थापना करेंगे यह महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने घोषणा कर दी थी। १५ अगस्त, १९४७ को स्वतंत्र होने के पश्चात् जब गणतंत्र के आधार पर नवीन स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने के लिए संविधान परिषद् स्थापित हुई उस समय यह जानते हुए भी कि शताब्दियों से भारत को गणतन्त्र पद्धति का अनुभव नहीं है और न यहां की जनता शिक्षित ही है, हम अपने वचनानुसार भारत में गणतंत्र की स्थापना के अपने संकल्प-पूर्ति की ओर सचेष्ट हुए। ब्रिटिश काल में यद्यपि समूचे भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का ही एकछत्र आधिपत्य था किन्तु इसके भी दो रूप थे।

देश का एक क्षेत्र जो ब्रिटिश भारत के नाम से जाना जाता था, दूसरा देशी रियासतोंवाला क्षेत्र जो स्थानीय नरेशों के अधीन था और ये नरेश-गण बहुत मामलों में यद्यपि अपने-आपमें स्वतन्त्र भी थे तथापि इनके भी निर्देशक ब्रिटिश शासक (वायसराय) ही थे जो इनपर अपना स्वामित्व-पूर्ण अंकुश जमाए हुए थे।

ब्रिटिश शासन ने पराधीनता के अगणित अभिशापों के साथ यहां से विदा होते-होते अपनी विदाई में हमें दो उपहार और दिए। एक देश का बंटवारा जो पाकिस्तान के नाम से हुआ, दूसरा छः सौ देशी रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता। पाकिस्तान का बटवारा तो हमने स्वयं स्वीकार कर लिया, रियासतों के अस्तित्व के संबंध में हमने अपनी पूर्व घोषित नीति का अनुसरण किया और हमारे यशस्वी नेता लौहपुरुष सरदार पटेल के हाथों इन रियासतों का भी अस्तित्व समाप्त हो भारतमाता के विकृत चित्र का साज-शृंगार कर दिया गया। राष्ट्रीय एकता, उसकी एकरूपता का यह श्रेय

राष्ट्रीयता के शिल्पी सरदार पटेल को ही है।

इस प्रकार सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक वृहद गणराज्य की स्थापना और उसका राष्ट्रपति चुना जाना, जिसको विधान ने सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न गणराज्य का एकमात्र प्रधान माना हो, इतिहास का यह अभूत-पूर्व गौरव भारत और उसके एक ऐसे प्रधान नागरिक को मिलना था जिसका नाम देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद है। इतना विशाल और ऐसी विपुल जनसंख्यावाला कोई गणतन्त्र इसके पूर्व संसार के मानव-इतिहास में किसी स्थान और काल में स्थापित नहीं हुआ था। संविधान-निर्माण के पश्चात् सारे देश में वालिग-मताधिकार के आधार पर आम चुनाव हुए और इन चुने हुए प्रतिनिधियों ने भी अपना प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद को ही चुना। इस चुनाव के पूर्व संविधान सभा के निर्णय के अनुसार दो वर्ष राजेन्द्र वावू, जो संविधान सभा के अध्यक्ष थे, राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित रह चुके थे, परन्तु विधिवत् नवनिर्वाचित राष्ट्रपति के रूप में वे सन् १९५२ में ही भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति बने।

यह देश का वड़ा सौभाग्य रहा कि इस देश को उसकी स्वाधीनता के वाद प्रथम वार प्रजातांत्रिक पद्धति की शुरुआत में पं० जवाहरलाल नेहरू के रूप में प्रधानमंत्री और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के रूप में राष्ट्रपति ऐसे दो व्यक्ति मिले जिन्होंने पिछली अर्द्धशताब्दी से आधुनिक काल में संसार के सर्वोत्तम महापुरुष महात्मा गांधी की छत्रछाया में साथ-साथ काम किया था और जो उस महापुरुष की विचार शैली, काम करने की पद्धति तथा संयम, शील और शांति के साथ मिलकर कार्य करने के आदर्श से न केवल पूर्णरूपेण परिचित थे अपितु उसके अभ्यस्त वन चुके थे। अपने नेता गांधीजी के इस प्रभाव के अतिरिक्त इस दीर्घकालावधि में साथ-साथ काम करने के कारण दोनों ही एक-दूसरे की विचारधारा तथा स्वभाव से पूर्ण-तया परिचित थे। फिर स्वातंत्र्य आन्दोलन के दिनों में देश को जाग्रत् करने, उसमें नवजीवन का संचार करने एवं स्वाधीनता की मंज़िल तक पहुंचाने में भी दोनों का समान योग रहा। मतभेदों के रहते हुए भी दोनों ने किस प्रकार स्वतन्त्रता के युद्ध में और उसके पश्चात् भी एक-दूसरे से मिलकर काम किया इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपतित्व-काल में भारत बड़े ही कठिन और संक्रमण-काल से गुज़रा। पौने दो सौ वर्षों की पराधीनता के अभिशाप के कारण जिस देश को रूढ़ियों, असंगतियों, अंधविश्वासों ने जकड़ रखा था, उसे जाग्रत कर गणतांत्रिक तरीकों एवं अधिकारों से देश को दुःख-दारिद्र्य, दीन भाव, अशिक्षा, बेरोज़गारी आदि सहस्रों बुराइयों से निकालकर आगे बढ़ाने का गुरुतर भार जो हमारे संविधान का लक्ष्य था उसे व्यवहृत कर दिखाना राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपति-पद और उनकी प्रतिष्ठा की कसौटी बन गया। फिर नवजात स्वाधीनता और देश के विभाजन के भयंकर परिणामों से जो विषम स्थिति उन दिनों देश में उत्पन्न हो गई थी उस असाधारण परिस्थिति में तथा शासन और समस्याओं की अनुभव-हीनता में भी अपने दायित्व-भार को वहन करना कम कठिन काम नहीं था। एक और बात हुई। अनेक विषयों पर राजेन्द्र बाबू और जवाहरलालजी में मतभेद उपस्थित होते थे। दृष्टान्त के लिए हिन्दू कोड बिल, स्वतन्त्र भारत के संविधान का मूल रूप हिन्दी में हो या अंग्रेज़ी में इत्यादि। और ऐसे अवसरों पर पंडितजी से अपनी भिन्न राय रखते हुए भी किसी प्रकार पटरी बिठाकर काम चलाना कम कठिन कार्य नहीं था। किन्तु राजेन्द्र बाबू ने अपने इस पद-गौरव को जिस धीरता, गंभीरता और दूरदर्शिता से निभाया वह राजेन्द्र बाबू जैसे विलक्षण बुद्धि-सम्पन्न चरित्रवान व्यक्ति और मेधावी व्यक्तित्व का ही काम था।

राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने जो कुछ किया उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करना अभी संभव नहीं है। हमारे गणतंत्र के शैशव-काल में नवीन परम्पराओं को चालित कर उन्होंने हर दिशा को आलोकित किया। राष्ट्रपति-भवन के कोने-कोने में नई हवाओं का संचार होने लगा। विदेशी कपड़ों का स्थान खद्दर ने ले लिया। अलंकरण की सामग्री में भी भारतीयता की सुगंध आने लगी। मुगल उद्यान में भी वसंत की बहार आई। नृत्यशाला, अशोककक्ष में साहित्यिक और सांस्कृतिक समारोह सम्पन्न होने लगे। राष्ट्रपति कव्वाली और हिन्दी छन्दों एवं भजनों के रसास्वादन का आनन्द साथ-साथ लेते थे। संगीत की स्वर-लहरियों में वह झूम जाते थे और सन्त तुकड़ोजी के भजनों को सुनकर वह सुधबुध भूल जाते थे। गीता

और रामायण के प्रवचनों के समय वह मौन तपस्वी की भांति बैठे अपने अंतरंग का परिशीलन करते रहते, पर आप उनकी असली एकाग्रता को उस वक्त देख सकते थे, जब वह चर्खा चलाते हों। मजाल है कि एक धागा भी टूट जाए। इस प्रकार शासन के अधिकारों और कर्त्तव्यभार वहन के साथ ही भारत और भारतीयता के आधारभूत उन सभी कर्तव्यों का पालन उसी प्रकार करते रहे जैसा कि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंम्भिक दिनों से करते आए थे।

यथार्थ में किसी भी गणतन्त्र में जहां का शासन संसदीय प्रणाली के अनुरूप चलता हो, राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से वहिरंग में कुछ कार्य कर नहीं सकते। पर फिर भी, पर्दे के पीछे शासन में स्थिरता लाने की दिशा में वह एक वहुत वड़े पात्र का अभिनय पूरा करते हैं। अपने महत्त्व व उदात्त व्यक्तित्व का प्रभाव मंत्रिमंडल पर अवश्य डालते हैं। वे न केवल मंत्रिमंडल को अपने अमूल्य सुझाव ही देते, अपितु आवश्यकता पड़ने पर उसे सचेत भी करते। राजेन्द्र बाबू अपने इस दायित्व के प्रति सदा सचेष्ट रहे। यही नहीं, वे अपने इन वैधानिक कर्त्तव्यों के निर्वाह में कभी नहीं चूके।

राष्ट्रपति के वैधानिक दायित्व वहन के साथ राजेन्द्र बाबू ने राष्ट्रपति के पद, उसके दायित्व एवं कर्तव्य निर्वाह की दृष्टि से ऐसी अनेक परम्पराएं अपने कार्यकाल में स्थापित कीं जिनसे आगे आने वाली अनेक पीढ़ियों को प्रेरणा एवं प्रकाश मिलेगा। इनमें राष्ट्रपति पद की भव्यता को कायम रखते हुए राष्ट्रपति-भवन में भारतीयता और उसके अनुरूप सादगी एवं स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार उनकी सबसे बड़ी देन है। वे स्वयं भी संविधान में निर्दिष्ट राष्ट्रपति के दस हज़ार रुपया मासिक वेतन में स्वैच्छिक रूप में चालीस प्रतिशत कटौती कर लगभग छः हज़ार मासिक वेतन लेते रहे, जो उनकी इस विचारधारा का परिचायक था कि इस गरीब देश की गरीब जनता के प्रथम नागरिक और राष्ट्रपति को आर्थिक दृष्टि से भी देश के जनजीवन से सदा सामंजस्य बनाए रखना चाहिए।

उनकी यात्राएं, जो अक्सर रेलगाड़ियों से हुआ करती थीं, लोगों में उत्सुकता और जागृति लानेवाली होतीं। छोटे-छोटे स्टेशन पर भी, जब सैकड़ों लोग इकट्ठे हो जाते सुबह हो या दोपहर, शाम हो या रात, वह

अपने वातानुकूलित डिब्बे से बाहर आते और जनता से दो-चार प्रेम-भरी बातें करते। इतने में 'जय जय' के निनादों को चीरती हुई उनकी गाड़ी धक-धक आगे बढ़ जाती। राजधानी की विशाल वीथियों में ही नहीं, अपितु पिछड़े हुए गांवों में भी, जहां के लोगों के गाल धंसे हुए हों और वन्य प्रांतों में भी, जहां के लोग अभी भी अधनंगे हों, उनके ज़माने में राष्ट्रपति का झण्डा फहरा। वे मंदिरों में भी गए और मस्जिदों में भी, गुरुद्वारों में भी और गिरजों में भी। यही नहीं, भारत के उत्तरी क्षेत्र बद्री विशाल के पावन चरणों में तथा दक्षिण में रामेश्वरम् के पास प्रभात की सुनहरी किरण-क्रांति में सागर की लहरों में उन्हें डुबकियां लेते देख उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक आस्था पर लोग मुग्ध हो जाते थे।

आन्ध्र की राजधानी हैदराबाद में 'राष्ट्रपति निलयम्' की स्थापना और दक्षिण की राजधानियों में बारी-बारी से स्वतन्त्रता दिवस मनाने की परिपाटी जो उन्होंने डाली उसके पीछे उनकी बड़ी दूर दृष्टि थी। देश की भावात्मक एकता की ओर ये उनके रचनात्मक प्रयास थे।

राजेन्द्र बाबू की यह नम्रता, सहिष्णुता, सहृदयता और उदारता धर्म-भीरुता नहीं थी वरन् भारत की सनातन संस्कृति का वह सर्वोत्कृष्ट स्वरूप थी जिसके कारण भारत अतीत काल से ही और आज भी अपनी सांस्कृतिक प्रभुसत्ता का अक्षय प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। राजेन्द्र बाबू इसी संस्कृति के न केवल मात्र प्रतिनिधि थे वरन् राष्ट्र के एक प्रधान नागरिक के नाते उसके प्रतीक बन गए थे। उनके इस प्रतिनिधि रूप से देशवासी तो परिचित थे ही विदेशों में भी उनकी उनके इसी रूप-स्वरूप के कारण बड़ी प्रसिद्धि हो गई थी। प्रायः जो भी विदेशी अतिथि, राष्ट्रनायक, नेता, प्रतिनिधि, साहित्यकार, कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और नागरिक भारत आते थे वे इस देश की विशिष्ट बातों के साथ राजेन्द्र बाबू के भव्य व्यक्तित्व की भी एक अमिट छाप अपने साथ ले जाते थे। एक बार जिनेवा विश्व पार्लियामेण्ट्री सम्मेलन के महामन्त्री श्री आण्द्रेनोन राजेन्द्र बाबू से मिले और इस मुलाकात का उनके मन पर जो असर पड़ा उसे उनके ही शब्दों में सुनिए :

"आपके प्रेसीडेण्ट अत्यन्त विनम्र व्यक्ति हैं। उनकी विनम्रता उनकी

आकृति पर स्पष्ट अंकित रहती है। किन्तु जब मैं उनसे हाथ मिला रहा था तब ही मुझे मालूम हो गया कि यह कितनी बड़ी शक्ति है, जो राख में ढकी आग जैसी लगी और लगा कि उनकी विनम्रता के भीतर से कोई अप्रतिम महत्ता मुझे झांक रही हो। मैंने अनेक महापुरुषों से हाथ मिलाया है पर डा० राजेन्द्रप्रसाद से हाथ मिलाने की बात तो मैं कभी भूल ही नहीं सकता।"

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राजेन्द्र बाबू के संबंध में अपने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे न केवल राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपतित्व-काल वरन् समग्र जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है अतः पंडितजी के इन विचारों के साथ यह राष्ट्रपति अध्याय समाप्त करना उचित होगा। पंडितजी कहते हैं:

"राजेन्द्र बाबू का और मेरा पैंतालीस बरस का साथ रहा। कम से कम चालीस साल तक तो हम साथ-साथ काम करते रहे। पहले तो हम आज़ादी की लड़ाई में साथ रहे, उसके बाद वह राष्ट्रपति बने और मैं उनका मंत्री रहा। इस लम्बे अरसे में मैंने उनको बहुत देखा और बहुत कुछ सीखा। हज़ारों तस्वीरें आज मेरे सामने से गुज़र जाती हैं।

"हलके-हलके इस युग के बड़े-बड़े नेता गुज़रते चले गए, लेकिन खुश-नसीबी यह थी कि यह सिलसिला टूटा नहीं और उसको ज़ारी रखने में राजेन्द्र बाबू का बहुत बड़ा हाथ था। एक मामूली हैसियत से वे भारत के ऊंचे ओहदे पर पहुंचे। फिर भी उन्होंने अपना तर्ज नहीं बदला। हिन्दुस्ता-नियत उनमें सोलहों आने थी। व्यक्तित्व की महानता के साथ-साथ उनकी सरलता और नम्रता बराबर बनी रही। उन्होंने ऐसी मिसाल कायम की जिससे भारत की शान और इज़्ज़त बढ़ी। वह इस बात के नमूने बनकर रहे कि भारत की भारतीयता को कायम रखना और नई बातों को सीखना है। वास्तव में वह भारत के प्रतीक हो गए। आज का भारत भारत है और भारत ही रहेगा, वह किसीकी नकल नहीं करेगा।

"उनके राष्ट्रपति के पद पर रहने के बारह सालों का ज़माना भारत का अच्छा ज़माना गिना जाएगा। इस ज़माने में हमने जो कुछ किया, उनकी निगहबानी में किया और शान से किया। हम यदि गलती करते थे तो वह हमें संभालते थे। यह बारह साल का ज़माना तो उनका ज़माना

समझा जाएगा। जो ज़िन्दा कौम होती है, वह जब मौका आता है, कोई न कोई बुलन्द इन्सान पैदा कर देती है। राजेन्द्र बाबू ने अपना सिक्का इस ज़माने पर डाला और उससे हमारा सिर ऊंचा हुआ। हिन्दुस्तान की आज़ादी मजबूती से जमी जबकि और देशों में, खास तौर से पड़ौसी देशों में, कितनी बार उलट-फेर हुई है, हिन्दुस्तान और मुल्कों के मुकाबिले किसी कदर मजबूती से चला है। उसपर चीन का हमला हुआ और हमने उसका मुकाबला किया, फिर भी किसी तरह की अदल-बदल नहीं हुई। यह उसी गांधी युग की देन है जिसने न सिर्फ आज़ादी और एकता दी, बल्कि ऐसी परम्पराएं भी पैदा कीं जिनसे आज़ादी की जड़ें बहुत गहराई से जम गईं। राजेन्द्र बाबू इस युग की बहुत मज़बूत कड़ी थे।

"उनकी मुद्रा और आंखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनसे सचाई झलकती थी। उनकी काबलियत, उनके दिल की सफाई और अपने मुल्क के लिए उनकी मुहब्बत ने उनके लिए हर भारतवासी के दिल में गहरी जगह पैदा कर दी।"

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू बारह वर्ष के एक पूरे युग राष्ट्रपति-पद पर रहे। जैसे कि राष्ट्रपति-पद के अधिकार हैं वे अपना कोई स्वतन्त्र दर्शन या संदेश देश और नई पीढ़ी को नहीं दे सके, तो भी उनका जैसा विमल चरित्र और भव्य महान व्यक्तित्व था उसके कारण न केवल उन्हें यह राष्ट्रपति-पद प्राप्त हुआ वरन् उन्होंने राष्ट्रपति-पद की गुण-गरिमा को भी बढ़ाया। राजेन्द्र बाबू जैसे उदारमना और महापुरुष को इस पद से कुछ मिला हो बनिस्बत इसके उन्होंने ही इसे शोभित और अलंकृत किया। वे इस पद से कहीं बड़े थे। उनके संतों जैसे निर्लिप्त, निर्दोष और निरभिमानी जीवन के संबंध में वर्तमान राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में "उनमें जनक, बुद्ध और गांधी की छाप थी।" एक शब्द में वह भारतीयता के प्रतिरूप थे और तभी वह कोटि-कोटि हृदयों के राजेन्द्र बन गए।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व व्यक्ति का भाववाचक शब्द है जिससे व्यक्ति के गुण, धर्म, कार्य और व्यापार का परिचय मिलता है। व्यक्ति का, उसके गुण, धर्म, कार्य एवं व्यापार के कारण समाज में जो स्वरूप बनता है, उसकी मुखर एवं अन्तःप्रवृत्तियों का जो प्रभाव निर्मित होता है, यही पुंजीभूत प्रभाव और स्वरूप व्यक्तित्व की संज्ञा में आता है। व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं, एक व्यष्टि दूसरा समिष्ट। व्यष्टि-हित किए जानेवाले मानवी प्रयत्न एवं कार्य व्यष्टि-मूलक व्यक्तित्व-क्षेत्र में आते हैं जबकि समाज और राष्ट्रहित के लिए किए जानेवाले प्रयत्न एवं कार्य समाज और राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व की इन दो सीमाओं में बंधा मानव अपने प्रयत्न, पराक्रम और पुरुषोचित प्रवृत्ति के कारण आरम्भ से ही कर्तव्य-क्षेत्र में अग्रसर रहा है। कर्तव्य-क्षेत्र की इस परिधि में जहां एक ओर अगणित लोग हमें ऐसे मिलते हैं जो अपने और अपने पारिवारिकों के लिए कार्यरत रह अपने विचार और व्यक्तित्व का सृजन-संपादन करते हैं, तो इन अग-णितों में एक ऐसा भी होता है जो अपनी निजता भुला एवं परिवार की परम्परागत निर्दिष्ट सीमाओं के संकोच से बाहर निकल अपने व्यष्टिरूप को समष्टि-हित अर्पित कर देता है। ऐसा मानव अपने गुण, धर्म, कार्य और व्यापार के कारण समाज के स्वत्वों की संपूर्ति का साधन बन जाता है और उसके प्रयत्न एवं कार्यों से समाज का जो स्वरूप बनता है वह उसके व्यष्टिरूप की प्रतिच्छाया। अतीत काल में और आधुनिक युग में भी ऐसे अनेक महानुभाव हुए हैं जिन्होंने अपने व्यष्टिरूप को समष्टि-हित अर्पित कर उसका साज-शृंगार किया है और उनके इस अर्पण-समर्पण के कारण ही उनका समकालीन समाज उन्हींके रूप-स्वरूपों में प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित हुआ है।

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ऐसे पुरुषों में प्रधान थे तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से भी प्रथम कोटि के, जिन्होंने अपनी आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों एवं कर्म-धर्म के अभेद आचरण से अपने व्यष्टिरूप को समष्टि-हित अर्पित कर व्यक्ति और व्यक्तित्व के मर्म-धर्म की मर्यादाओं का पालन कर उसपर

अपनी छाप लगा दी।

सांवला रंग, ऊंचा कद, कभी का बहुत दुबला शरीर जो बाद में भर गया था और उसीके अनुरूप चेहरा भी राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष था। वेशभूषा की दृष्टि से यद्यपि अपने राष्ट्रपतित्व-काल में विदेशी मेहमानों से मुलाकात के कारण तथा राष्ट्रपति की संविधान में निर्दिष्ट पोशाक की नियमपूर्ति के लिए शेरवानी और चूड़ीदार पाजामा पहनते रहे, किन्तु स्वभावतः उन्हें शायद अधिक आराम अपने कुरते, धोती और टोपी की उसी पोशाक से मिलता था जो वे कांग्रेस कार्यकर्ता की हैसियत से प्रारम्भ से पहनते रहे थे और जिसके अभ्यस्त भी बन चुके थे। अपने इस रूप-स्वरूप और पोशाक से राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व ज़रा भी आकर्षक नहीं था। फिर निसर्गप्रदत्त शारीरिक अरूपता के साथ पोशाक की अरूपता उन्होंने इसपर और लाद दी थी। उनके कपड़े कभी व्यवस्थित नहीं रहे। यही नहीं, सिर की टोपी से लेकर नीचे धोती तक सभी कुछ सदा ही अव्यवस्थित रहता था। धोती एक ओर एक घुटने तक ऊंची तो दूसरी ओर दूसरे पैर की एड़ी में फंसने अथवा ज़मीन में कुढ़रने जैसे रहती, कुरता अथवा जाकेट का कभी कोई बटन खुला होता कभी कोई तथा यही हाल टोपी का होता, कभी एक ओर, कभी दूसरी ओर और कभी किसी ओर झुकी हुई रहती। लाख प्रयत्न करने पर भी टोपी व्यवस्थित रहती ही नहीं। सभा-सम्मेलनों और राजकीय भोजों के अवसर पर जब वह थोड़ी देर के लिए उसे निकालकर सामने की मेज़ पर रख देते तो उनके पके बाल और हिलती-डुलती छोटी-सी चुटिया नज़र आती। बालों को संवारने क़ी कला किस चिड़िया का नाम है वह नहीं जानते थे। उनकी इसी बेढंगी और बेपरवाह पोशाक को देखकर एक बार पंडित मोतीलालजी ने उनसे पूछा—"आप कपड़े पहनते ही क्यों हैं?" इसपर राजेन्द्र बाबू ने तपाक से उत्तर दिया—"शरीर ढंकने और बचाने के लिए।"

यथार्थ में राजेन्द्र बाबू एक किसान थे, ऐसे किसान जिसका संबंध उसके कृषि कर्म से रहता है, तड़क-भड़कवाली वेषभूषा से नहीं। मैक्सिको में स्वतन्त्र भारत के राजदूत की हैसियत से अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत करते हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद का जब फोटो पेश किया तो

वह एक-एक करके हाथों से गुजरते हुए आकर्षण का केन्द्र-विन्दु बन गया। मैक्सिको के राष्ट्रपति ने उसकी ओर गौर से देखकर कहा—"अरे, यह तो मैक्सिको के किसान का चेहरा है। टोपी की जगह सोंब्रेरारो को रखें तो यह हूवहू मैक्सिको के किसान लगते हैं।"

इसी प्रकार स्वाधीनता के पूर्व बात ही बात में एक बार लार्ड वेवेल ने राजेन्द्र बाबू से कहा कि यदि आपसे पूछा जाए कि आप कौन-सा विभाग लेंगे तो आपका क्या उत्तर होगा? राजेन्द्र बाबू ने कहा—खाद्य और कृषि, क्योंकि ये मेरे लिए बिलकुल अपने हैं। इस प्रकार राजेन्द्र बाबू न केवल वेशभूषा वरन् तन और मन दोनों ही दृष्टियों से किसान थे।

फिर राजेन्द्र बाबू ने जीवनपर्यन्त वेशभूषा या ठाट-बाट की ओर कभी कोई ध्यान दिया ही नहीं। उनकी इस पोशाक के साथ उनके सिर के व मूंछों के बाल भी बड़े वेतरतीब रहते थे। जब वह राष्ट्रपति-भवन आए उनकी मोटी-मोटी मूंछों की कांट-छांट भी होने लगी। पितृ-पक्ष में दाढ़ी न बनवाने की पूर्व परिपाटी को तोड़कर वह नित्य दाढ़ी बनवाने के अभ्यस्त भी हो गए, किन्तु नीम की दातौन को छोड़कर वह टुथ-ब्रुश की ओर कभी झुके नहीं। और यही वजह हुई कि उनके सभी दांत अन्त तक सुरक्षित और मज़बूत रहे। एक बार उनकी सेवा करनेवाली नर्स ने उनकी स्वस्थ दंत-पंक्ति को देखकर पूछा—"श्रीमान्, क्या ये नकली दांत हैं?" मुस्कराते हुए राजेन्द्र बाबू ने उत्तर दिया—"मेरी कोई चीज़ नकली नहीं है।" उनके खाने-पीने में भी कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं आया। चपाती, दाल-भात, साग-सब्ज़ी और साथ में 'संदेश' का एक टुकड़ा और अन्त में एक आम मिल जाए तो वही उनके लिए सर्वोत्कृष्ट भोजन बन जाता। आम तो उनका इष्ट फल था ही, भुट्टा भी उन्हें बहुत प्रिय था। चाय पीने की आदत उन्होंने अनिच्छापूर्वक ही डाली और उससे कोई लगाव न होने के कारण वे उसके ज़ायके से भी अनभिज्ञ ही रहे। उनके प्याले में कितनी चीनी डाली जाए, जब कोई उनसे यह पूछता तो वह ताबड़तोड़ उत्तर देते, "आपकी मर्ज़ी।" इस प्रकार चाय के अभ्यस्त हो जाने पर भी वे उसके ज़ायके से उदासीन ही रहे। वह जीवन-भर शाकाहारी रहे, हालांकि उनके परिवार या उनके इर्द-गिर्द के उनके साथी सब कसौटी पर खरे उतरे हों, ऐसी बात

नहीं। पर स्वयं उन्होंने तो अहिंसा का व्रत ही धारण कर लिया था। उनकी यह मान्यता थी कि मांसाहार दया और सहानुभूति के मार्ग में एक बड़ा व्यवधान है। विश्व शाकाहारी सम्मेलन के अवसर पर एक पत्र-प्रतिनिधि ने उनसे प्रश्न किया—"अब भी राष्ट्रपति-भवन में मांस क्यों परोसा जाता है?" तो उन्होंने हंसी के बीच उत्तर दिया—"मैं तो शाकाहारी हूं लेकिन मेरी सरकार नहीं।" इस प्रकार राजेन्द्र बाबू की वेशभूषा और मनोभावों को देखकर अनुमान हो उठता मानो निसर्ग द्वारा प्रदत्त अपने अरूप को वे वस्त्राभरणों से छिपाकर उसे और कुरूप नहीं बनाना चाहते। वह जैसा है उसके अनुरूप उसका संरक्षण कर अपने अरूप और अनाकर्षक स्वरूप की ओर से उदासीन रह वे जीवन के स्वरूप के प्रति सतर्क और सचेष्ट बनने के पोषक थे। यही वजह हुई कि अपने रूप-स्वरूप से अनाकर्षक होने पर भी अपने अन्तरंग और अन्तःप्रेरित अपने आचार-धर्म के कारण वे इतने आकर्षक बने कि उनका वह अरूप और वह अनाकर्षक व्यक्तित्व एक आभाशील और आकर्षक दिव्य तेज में परिणत हो गया।

उनके अन्तरंग और आचार-धर्म के जो अलंकार थे, जिन्हें धारण कर राजेन्द्र बाबू ओजस्वी, आकर्षक और दिव्यतापूर्ण बने, उनमें प्रधान थे उनकी सरलता, सौम्यता, सिद्धान्तवादिता, निस्पृहता, निश्छलता, निरहंकारिता और जीवन-भर की अटूट सेवा। फिर इस सबके साथ था उनके निष्ठा, लगन और त्यागपूर्ण कर्ममय जीवन का अपूर्व अवदान जिसने राजेन्द्र बाबू को न केवल उनके व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा सार्वजनिक जीवन में अपितु राष्ट्रीय जीवन में एक अजातशत्रु के रूप में खड़ा कर दिया।

राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व के इस पक्ष पर बोलते हुए एक बार श्रीमती सिरोजिनी नायडू ने ठीक ही कहा था :

"बाबू राजेन्द्रप्रसाद के भव्य व्यक्तित्व के बारे में स्वर्ण-लेखनी को मधु में डुबोकर लिखना होगा। उनकी असाधारण प्रति भा, उनके स्वभाव का अनोखा माधुर्य, उनके चरित्र की विशालता और आत्मत्याग के उनके महान् गुणों ने सम्भवतः उन्हें हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और व्यक्तिगत रूप से प्रिय बना दिया है। सच्ची श्रद्धाञ्जलि के रूप में मैं इससे अधिक क्या कह सकती हूं कि गांधीजी के निकटतम शिष्यों में उनका वही

स्थान है जो ईसा मसीह के निकट सेंट जॉन का था।"

राजेन्द्र वावू गांधीजी के एक अन्यतम अनुयायी और साथी थे। गांधी जी के सत्य, अहिंसा के सिद्धान्तों को उन्होंने वैचारिक दृष्टि से नहीं अपितु आचार रूप में जीवन में उतारा था। सर तेजवहादुर सप्रू ने राजेन्द्रबाबू के एकनिष्ठ गांधीवादी रूप के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा था—"गांधीजी की अहिंसा 'एक्वायर्ड' यानी बुद्धि द्वारा निर्धारित है, जबकि राजेन्द्र वावू की सर्वथा स्वाभाविक।" राजेन्द्रवावू के इस अहिंसक रूप के उनके जीवन में अनेक प्रमाण मिलते हैं जो उनके स्वातन्त्र्य आन्दोलन और उसके वाद भी उनके वैयक्तिक जीवन के विभिन्न अवसरों पर हुई घटनाओं से सिद्ध हुए। यहां केवल एक-दो ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। वात वहुत पुरानी है, जव राजेन्द्र वावू विहार प्रादेशिक कांग्रेस के प्रधानमंत्री थे और विहार के ही श्री मौलाना मजरुल हक़ साहिव सभापति। वहां के एक प्रमुख कांग्रेसी थे मौलाना फजुलरहमान। वह बड़े ही उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्हें कुछ शिकायत थी जिसे लेकर वे राजेन्द्र वावू के पास पहुंचे। राजेन्द्र वावू सदाकत आश्रम में ज़मीन पर बैठे चर्खा कात रहे थे। मौलाना ने वहां पहुंचकर, किसी वात का जिक्र किए बगैर ही राजेन्द्र बावू को अनाप-शनाप गालियां सुनानी शुरू कीं। राजेन्द्र वावू पूर्ववत्—

"बूंद अघात सहें गिरि कैसे,
खल के वचन संत सह जैसे।"

की उक्ति के अनुरूप चर्खा कातते रहे। कोई पांच मिनट तक मौलाना साहव की गालियों की बौछार के बीच ही राजेन्द्र वावू उठकर लघुशंका के लिए वाहर गए और लौटकर फिर चर्खा कातने में जुट गए। मौलाना इस बीच चुप हो गए थे। राजेन्द्र बावू ने उन्हें चुप देखकर पूछा—"क्यों मौलाना साहव, आपकी गालियां क्या खतम हो गईं?" इसका मौलाना पर इतना असर हुआ कि उनकी आंखें भर आईं और दौड़कर उन्होंने राजेन्द्र वावू के पांव पकड़ लिए। आधुनिक युग में अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष का इससे वड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है।

फिर उनकी यह अहिंसक प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व-विकास के साथ

बढ़ती ही गई। रामायण में कहा गया है—"प्रभुता पाय काह मद नाहीं।" गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने इस कथन में मानव-स्वभाव की एक साधारण प्रवृत्ति की पुष्टि की है। स्वभाव से ही अधिकारों की प्राप्ति पर आदमी अहं के वशीभूत हो ही जाता है और उसका यह अहं वक्त-बेवक्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि कुभावनाओं के द्वारा उस अधिकार-भाव का प्रदर्शन भी कर ही बैठता है। इसके विपरीत अधिकार-भाव से सम्पन्न होने पर भी जो इन रागद्वेषादि अवगुणों से मुक्त और अप्रभावित रहते हैं ऐसे मानव ही मानव-स्वभाव की असाधारण स्थिति के अधिकारी बनते हैं। राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपतित्व-काल की एक घटना का, जो उनके स्वभाव की असाधारणता का प्रतीक है, यहां इसी संदर्भ में उल्लेख करना अनावश्यक न होगा।

राजेन्द्र बाबू का एक पुराना परिचारक, जिसका नाम तुलसी था, कुछ स्वभाव से ही लापरवाह था। यद्यपि तुलसी राजेन्द्र बाबू की सेवा-सम्हाल बड़े अनुराग-भाव से करता था और राजेन्द्र बाबू और तुलसी में स्वामी और सेवक भाव का सम्बन्ध बन चुका था, किन्तु कुछ स्वभावगत असावधानियां जब-तब तुलसी कर बैठता था। एक दिन तुलसी ने राष्ट्रपति-भवन में राजेन्द्र बाबू की मेज़ साफ करते वक्त एक हाथीदांत का बना कलम (फाउण्टेन पेन), जो उन्हें कहीं से उपहार में मिला था और जो राजेन्द्र बाबू को बहुत प्रिय था तथा जिससे वे हमेशा काम करते थे, कपड़े की फटकार में नीचे गिराकर तोड़ दिया। कलम के टूटने से उसकी स्याही भी नीचे बिछे कालीन पर फैल गई, जिससे कालीन खराब हो गया। राजेन्द्र बाबू जब अपने दफ्तर में आए और जब यह दृश्य देखा तो उन्होंने चूंकि तुलसी को उसकी इसी प्रकार की अनेक असावधानियों के लिए पहले भी ताकीद कर चुके थे, अपनी नाराज़गी ज़ाहिर कर उसे अपने पास से हटा राष्ट्रपति-भवन में ही दूसरी जगह स्थानान्तरित करने का हुक्म दे दिया। राष्ट्रपति के सचिव ने तुरन्त तुलसी को स्थानान्तरित भी कर दिया। राजेन्द्र बाबू दफ्तर में आते ही विदेशी अतिथियों, आगन्तुकों और अनेक मिलने आनेवालों से मुलाकात लेते थे, उस दिन मुलाकातों का यह कार्यक्रम अपेक्षाकृत अन्य दिनों की कुछ अधिक था। इन मुलाकातियों में

अनेक प्रतिष्ठित विदेशी अधिकारी भी थे। राजेन्द्र बाबू की अतिथियों, अधिकारियों और आगन्तुकों से मुलाकात आरम्भ हुई, पर आज की घटना जो उनके दफ्तर-प्रवेश के साथ ही घट गई तथा जिसके कारण उन्हें तुलसी को स्थानांतरित करना पड़ा, भीतर ही भीतर उन्हें कचोटने लगी। उन्हें लगा कि तुलसी के प्रति उनका यह आचरण उनके अनुरूप नहीं हुआ। जब तक आगन्तुकों से उनकी मुलाकात चलती रही राजेन्द्र बाबू बड़े अन्यमनस्क भाव से एक रस्म अदाई-सी करते रहे। ज्योंही मुलाकात समाप्त हुई, वे उठे और तत्काल अपने निजी सचिव से कहा, तुलसी को बुलाओ। तुलसी बुलाया गया। बेचारा बड़ा घबराया-सा, इस भय से कि न मालूम अब और क्या आफत आने वाली है, राजेन्द्र बाबू के सम्मुख उपस्थित हुआ। राजेन्द्र बाबू ने अपराधी भाव से तुलसी के सामने खड़े हो हाथ जोड़े दीन भाव से कहा—"तुलसी, तुम मुझे माफ कर दो।" तुलसी की हैरानी बढ़ी और राजेन्द्र बाबू के इस भाव, व्यवहार और मुद्रा से उसकी सिप्पी बंध गई। वह कुछ बोल सके इसके लिए साहस बटोरने का प्रयास करता पर मुंह से शब्द ही न निकलते। राजेन्द्र बाबू पूर्ववत् मुद्रा में, 'तुलसी माफ कर दो', ये शब्द दोहराने लगे। दृश्य ऐसा अजीबोगरीब था कि यह निर्णय करना कठिन हो गया कि अपराधी कौन है। एक ओर हाथ जोड़े राजेन्द्र बाबू खड़े, दूसरी ओर उनके सामने ही हाथ जोड़े खड़ा उनका सेवक तुलसी। राजेन्द्र बाबू बराबर उससे कहते रहे कि तुलसी, तुम मुझे माफ कर दो, पर तुलसी बेचारा इस पशोपेश में पड़ा भाव-विचारों में खो गया था कि आज यह क्या हो गया जो बाबूजी, उसके स्वामी और भारत के राष्ट्रपति, इस प्रकार उसके सामने अपराधी भाव से खड़े हैं। वह हतप्रभ था। किन्तु जब तक तुलसी की ओर से राजेन्द्र बाबू को उसकी क्षमाशीलता का आश्वासन न मिल जाए उन्हें कब संतोष होनेवाला था! आखिर जब तुलसी ने साहस बटोरकर कुछ सांत्वनात्मक शब्द उनसे कहे तो राजेन्द्र बाबू को शांति मिली और उन्होंने पुनः अपनी जगह आकर काम करने के लिए भी उससे कहा। जब तुलसी ने पूर्ववत् अपना काम सम्भाल लिया राजेन्द्र बाबू को संतोष हो गया।

इस छोटी-सी घटना में राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व के दर्शन किए जा जा सकते हैं। रामायण में राम वनगमन के समय दास-दासियों के प्रति

कर्तव्य-भाव का गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्न कथन में परिचय मिलता है :

"दासी दास बुलाइ बहोरी, गुरुहि सौंपि बोले कर जोरी।
सबकी सार संभार गुसाईं, करहु जनक जननी की नाईं।"

राजेन्द्र बाबू का अपने सेवक तुलसी पर यह अनुराग-भाव रामचन्द्रजी के उक्त आदर्श भाव से क्या कम है ? आदर्श को अपना लेना आसान है, उसकी साधना भी की जा सकती है, किन्तु उसे आत्मसात् कर जीवन में उतार लेना एक असाधारण बात है जो राजेन्द्र बाबू ने जीवन के हर क्षेत्र में कर दिखाई है।

राजेन्द्र बाबू की इस सरल, सद्भावमूलक, सहिष्णु एवं क्षमाशील चित्तवृत्ति की अनेकों घटनाएं हमारे जन-जीवन में कथागाथाओं का रूप ले चुकी हैं और लोग जब-तब राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व और विचार-प्रसंग में इन घटनाओं का स्मरण-वर्णन करते रहते हैं।

अंग्रेज़ी में एक उक्ति है—"Some are born great, some achieve greatness and on some greatness is thrust." यह उक्ति जवाहरलालजी पर खरी उतरती है, वे मोतीलालजी के सदृश बड़े बाप के बेटे थे, फिर उन्होंने अपने प्रयत्न से भी महानता प्राप्त की। इसके साथ ही महात्मा गांधी द्वारा उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किए जाने से महानता उनपर लादी भी गई। किंतु राजेन्द्र बाबू के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। उनका तो समस्त जीवन व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के क्रमिक विकास की एक कहानी रहा है। फिर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी पैतृक परम्परा से, उसके प्रभाव और प्रतिष्ठा से, तथा कुछ किसी पद अथवा अधिकार-विशेष से समाज में परिचित और प्रतिष्ठित होते हैं, किंतु राजेन्द्र बाबू दोनों ही दृष्टियों से परे अपने निज के बलबूते पर परिचित और प्रतिष्ठित हुए। यही नहीं, उन्होंने अपने कृतित्व से व्यक्ति के परिचय, प्रभाव और प्रतिष्ठा की प्राण-प्रतिष्ठा और अभिवृद्धि की। पद-प्रतिष्ठा और प्रशस्ति व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं, उसे समाज में सम्मान दिलाते हैं, पर ऊपर उठने के इस क्रम में समाज में सम्मिलित होनेवाले ऐसे कितने व्यक्ति होते हैं जो अपने-आपकी दृष्टि में

प्रतिष्ठित और सम्मानित होते हैं ? फिर पद-प्रतिष्ठाजनित सम्मान बाह्याडंवर हो सकता है, जो समय के साथ जाता रहता है, किंतु अपने-आपकी दृष्टि में सम्मानित व्यक्ति एक स्थायी और स्तुत्य सम्मान का हेतु होता है। वहुतों के जीवन में अनेक वार ऐसे अवसर आते देखे गए हैं जो वाह्याडंवर के कारण समाज में तो सम्मानित बने रहते हैं, किंतु अपनी ही नज़रों में गिर जाने के कारण जीवन से दुखी और बोझिल हो जाते हैं। अतः अपनी दृष्टि में सम्मानित बने रहना, दूसरों की दृष्टि की अपेक्षा ज़्यादा आवश्यक होता है।

सम्मान की दृष्टि से राजेन्द्र बाबू का जीवनपर्यंन्त यही द्वितीय प्रकार का दृष्टिकोण रहा। वे विद्यार्थी-जीवन से लेकर भारत की सर्वोच्च सत्ता राष्ट्रपति पद-प्राप्ति तक अपने इसी सम्मान के कायल रहे। जीवन में कभी उन्होंने आडम्वर, पद-प्रतिष्ठा और प्रचार-प्रशस्ति को अपने पास फटकने भी नहीं दिया। अपने चरित्र और बुद्धिवल से वे सदा पदों से घिरे रहे, एक के वाद एक अनेक उच्च पदों पर कार्य कर उन्होंने देशहित और यश-वर्धन किया, किंतु उनके मानस में पद-प्रभाव के दर्शन की तो कौन कहे, उसके प्रति कभी कोई आसक्ति भाव भी देखने को नहीं मिला। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उनके इस दृष्टिकोण के सम्वन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए अपनी आत्मकथा में लिखा है :

"डा० राजेन्द्र प्रसाद वहुत अच्छे साथी हैं, उनके साथ रहकर आप सदैव ईमानदारी से भरी सहायता और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। उनके मुख पर कुछ ऐसी आध्यात्मिक कांति है, जो प्रेरणा और सहायता प्रदान करती है। वह कभी भी पदों के इच्छुक नहीं रहे, परन्तु ऊंचे पद उनके चरणों पर गिरते हैं और वह कर्तव्य समझकर उनको संभालते हैं। वह अत्यन्त उदारहृदय और क्षमाशील हैं और विश्वास की ज्योति सदैव उनके हृदय में जलती रहती है। उन्होंने अपने गुरु महात्मा गांधी का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है और जब कभी उनसे मतभेद भी हुआ तब राजेन्द्र बाबू ने उनकी बात को ही स्वीकार किया, क्योंकि उनको यह विश्वास था कि बापू को गलती न करने की आदत है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद जी देशरत्न थे, गांधीजी की परम्परा के प्रथम

अनुयायी और उन इनेगिने सत्याग्रहियों में प्रथम जिन्होंने गांधीजी के आदर्श—साधन और साध्य की पवित्रता—को अपने जीवन में उतारा था। साधन और साध्य की पवित्रता पर विश्वास और आचरणवाला आदर्श अपनी नज़रों में अपने-आपका सम्मान वनाए रखने की प्रेरणा देता है और ऐसा व्यक्ति प्रशंसा, प्रशस्ति और पदप्रतिष्ठा से अप्रभावित और परे रह सदा अपनी ही दृष्टि में अपने सम्मानवाले आदर्श के अनुसरण में दत्तचित्त वना रहता है। राजेन्द्र वाबू इस आदर्श के मूर्तिमन्त रूप थे। फिर ऊंचे आदर्शों की प्राप्ति ही जिनका जीवन-लक्ष्य होता है, ऐसे व्यक्ति ही महत् और महापुरुष कहलाते हैं और ऐसे मेधावी तथा वलिदानी ही समाज और देश के आदर्श वन सकते हैं।

स्वातंत्र्य-युद्ध के शंखनाद से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक देश के नेता और उसके नायक के रूप में राजेन्द्र वाबू सदा जनता के निकट वने रहे। फिर स्वाधीनता के वाद जव भारतीय गणतंत्र की स्थापना हुई और वह उसके प्रथम राष्ट्रपति वने, तव राष्ट्रपति-पद-रूपी पादपीठ पर वैठकर भी वह जितने अधिक जनता के निकट आए, उतने कदाचित् उसके पूर्व नहीं। इसका स्पष्ट कारण था । मानव-जीवन में निहित सद्गुणों का विकास और प्रकाश उसके जीवन के उन विपरीत क्षणों में होता है जव वह अपने स्वभाव, अभ्यास और वृत्ति के विपरीत किसी ऐसे वातावरण, कार्य अथवा प्रयोग में प्रवृत्त होता है जिसकी अनुभूति उसके जीवन में नई हो । उदाहरण के लिए, यदि किसी भोगी को योगाश्रम में अथवा किसी योगी को भोगाश्रम में प्रवृत्त करा दिया जाए, तो उनकी जीवन-प्रवृत्तियां पथ-विमुख अथवा पथ-भ्रष्ट हुए विना न रहेंगी। सदाकत के संत राजेन्द्र वाबू के लिए जो गांधीजी के स्वातंत्र्य-आन्दोलन में आने के कारण सत्याग्रही और स्वभाव से संतहृदय वने रहे, राष्ट्रपति-पद-प्राप्ति और राष्ट्रपति-भवन में अपने निवास का प्रसंग उनके जीवन का एक ऐसा ही प्रकरण था, जिस प्रकार किसी अनासक्त योगी को किसी भोग-भवन में लाकर कसौटी पर कसा जाए । गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्पष्ट ही कहा है—"प्रभुता पाय काह मद नाहीं।" और तुलसीदासजी के इस कथन के अनुरूप देश के स्वातंत्र्य-युद्ध और उसके वाद पद-प्रतिष्ठा और यशवृद्धि

की प्रभुता से देश में अनेकों ही नेता और महज्जन विभूषित हुए और बौराये भी, किन्तु भारतीय गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति बनने और उसके बाद स्वैच्छिक रूप से अपने पद-त्याग तक के इन बारह वर्षों में जो पद-प्रतिष्ठा और यश अर्जन राजेन्द्र बाबू ने किया और उसमें एक अनासक्त और निष्काम कर्मयोगी की भांति उनका जो अविचल और समभाव बना रहा, वह गोस्वामी तुलसीदासजी के उक्त कथन के विपरीत भरत के सम्बन्ध में कहे गए—

> "भरतहिं होइ न राजु मद,
> विधि हरिहर पद पाइ ।"

इस कथन को पुष्ट करता है।

इस प्रसंग में यहां एक घटना स्मरण हो आई जिसका उल्लेख उपयुक्त होगा। राजेन्द्र बाबू प्रथम राष्ट्रपति की हैसियत से जब राष्ट्रपति भवन में पधारे और जब उन्हें उस कक्ष में जहां कि उन्हें निवास करना था, ले जाया गया, तो उन्होंने स्थान आदि का निरीक्षण कर अपने उपयोग की वस्तुओं को भी देखा। इनमें एक पलंग भी था। इस पलंग पर ब्रिटिश भारत के गवर्नर जनरल (वायसराय) शयन करते थे। राजेन्द्र बाबू पलग के निकट पहुंचे और अपने दाहिने हाथ से ज्योंही पलंग को दबाया तो पलग के स्प्रिंगदार होने के कारण काफी नीचे तक हाथ चला गया। राजेन्द्र बाबू कुछ आश्चर्य से बोले, "मेरे लिए यह पलंग? नहीं, इसपर सोनेवाले की तो वही हालत होगी जो घी भरे कनस्तर में कटोरी छोड़ देने पर कटोरी की होती है। इसपर जो सोएगा वह कटोरी की तरह नीचे चला जाएगा।" और उन्होंने अपने लिए तत्काल एक लकड़ी के तख्त की व्यवस्था करवाई जिसपर वे अपने पूरे राष्ट्रपतित्व-काल में सोते रहे। सचमुच जिस त्याग, तपस्या, निस्पृहता और सेवा-भाव से उन्होंने अपना इतना बड़ा स्थान बनाया था कि एक साधारण हैसियत से भारत की सर्वोच्च सत्ता के अधिकारी बने, उसकी रक्षा भी भरत के सदृश भगवान राम की चरण-पादुकाओं रूपी प्रजातंत्र की इस पादपीठ कें पूजाभाव से ही की जा सकती थी।

राजेन्द्र बाबू की सरलता, सहृदयता और सज्जनता बेजोड़ थी।

उनके समूचे व्यक्तित्व में साधुभाव समाया हुआ था। जो भी उनके सम्पर्क में आता, उनके इन सद्‌गुणों की एक ऐसी अमिट याद अपने साथ ले जाता जिसका नाता जीवन के साथ बंध जाता। फिर जो उनके सम्पर्क, सान्निध्य में आते वे ही उन्हें न भुला पाते; यही नहीं, राजेन्द्र बाबू भी अपनी स्वाभाविक शुचिता के कारण अपने निकटवर्तियों, साथियों और सेवकों के साथ छोटे-बड़े उन सभी लोगों का सदा स्मरण रखते जो कुछ कम-अधिक समय उनके साथ रह चुके हों। यहां इस सम्बन्ध में उनके राष्ट्रपतित्व-काल का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

राजेन्द्र बाबू अक्सर पिलानी जाया करते थे। जब वे राष्ट्रपति बने तो उन्होंने राष्ट्रपति-भवन में अपने काम के लिए पिलानी के शंकरिया कुम्हार को, जिसके काम से वे बड़े प्रसन्न थे, बुला लिया। शंकरिया कुम्हार काफी दिनों तक राष्ट्रपति भवन में राजेन्द्र बाबू की सेवा में रहा। कुछ समय बाद वह राष्ट्रपतिजी की ही आज्ञा से पुनः पिलानी वापस आ गया और पूर्ववत् अपनी आजीविका में जुट गया। इसके बाद राष्ट्रपतिजी पिलानी पधारे तो उन्होंने अपने निजी सेवकों को आदेश दिया कि वे देख आवें शंकरिया कैसा है और क्या करता रहता है तथा उससे कह दें कि मैं उससे मिलना चाहता हूं। राष्ट्रपति के निजी सेवकों ने आकर सूचित किया कि वह अपने काम में लगा हुआ है। गधों से इधर-उधर मिट्टी ढोता है और उनकी देखरेख में लगा रहता है। इस संवाद पर राष्ट्रपतिजी बहुत हंसे और जब शंकरिया उनसे मिलने आया तो उन्होंने उससे कहा, "अरे शंकरिया, तूने तो मेरी गधों के बराबर भी कदर नहीं की।"

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू के हृदय में सहृदयता और महानता का जो सागर भरा रहता था वह जब-तब उनके विनोदी उलाहनों में भी छलक उठता था।

स्वातंत्र्य-आन्दोलन के दिनों में ही राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व किस कोटि का निर्मित हो चुका था, इस सम्बन्ध में बारडोली सत्याग्रह के समय के कुछ घटना-संस्मरणों से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

राजेन्द्र बाबू सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ बारडोली में थे। इस समय भाई शंकर पंड्या नामक एक सज्जन, जिनसे राजेन्द्र बाबू के ये

संस्मरण ज्ञात हुए, राजेन्द्र बाबू की सेवा-सुश्रूषा में रहते थे । भाई शंकर पंड्या राजेन्द्र बाबू के सरल-सहिष्णु भाव का गुणगान करते हुए प्रायः उनके एक क्रोध-प्रसंग का भी ज़िक्र किया करते हैं । एक बार किसी त्योहार के दिन खीर-पूरी का भोजन बना । राजेन्द्र बाबू भोजन करके बाहर बरामदे में टहल रहे थे । सहसा उनकी निगाह बर्तन मांजनेवाले उस कहार पर पड़ी जो पत्तल में बचा भोजन खा रहा था । पत्तल में परोसे भोजन को वह एकटक देखते रहे । फिर गरजकर भाई शंकरजी को बुलाया । भाई शंकरजी ने राजेन्द्र बाबू का यह रौद्र रूप न कभी देखा था, न कभी उसकी कल्पना ही उन्होंने की थी ।

भाई शंकरजी के पहुंचते-पहुंचते राजेन्द्र बाबू ने कहार की पत्तल को स्वयं उठाकर पास ही खड़े कुत्तों को फेंक दिया था । भाई शंकरजी को देखते ही बोले, "खीर-पूरी की पत्तल लाओ । किसने परोसे इसे रात के बासी चावल ?"

जब तक कहार की पत्तल नहीं आ गई, राजेन्द्र बाबू की भृकुटि तनी रही । फिर वह बहुत खिन्न-उदास बाहर निकल गए । जब यह वृत्त सरदार पटेल को ज्ञात हुआ तो वह मुस्करा दिए और बोले—"ज़रा इस-पर नज़र रखो, बापू स्वराज्य लेकर इसे ही सौंपेंगे ।"

साधारण व्यंग्य में कितनी बड़ी भविष्यवाणी कर गए थे सरदार पटेल! इसी प्रकार एक बार बारडोली संग्राम के अपने लेफ्टिनेंट श्री कुंवरजी भाई से सरदार ने कहा था—"जानते हो, यह बुद्ध जैसा आदमी यहां क्यों है ? बापू का खुफिया है । हम सबपर नज़र रखने के लिए उन्होंने इसे यहां तैनात किया है ।" इसपर कुंवरजी भाई ने प्रश्न किया—"भाई श्री, यह सीधी-सादी गाय क्या जासूसी करेगी ?"

सरदार व्यंग्य में फिर बोले—"गाय नहीं, बापू की कामधेनु है यह । दूध पिलाकर हम सबको अहिंसक बना देगी ।"

इसी प्रकार एक और रोचक संस्मरण कुंवरजी भाई ने सुनाया था । राजेन्द्र बाबू दमे से पीड़ित थे । कभी-कभी रात-रात भर खांसते रहते थे । सरदार बहुत चिंतित हो जाते थे । एक दिन कुंवरजी भाई से सरदार ने कहा—"बापू का पत्र आया है । राजेन्द्र बाबू खांसते यहां हैं, और नींद

हराम होती है वहां बापू की। किसी वैद्य को बुलाओ।"

वैद्य के उपचार की प्रतिक्रिया में खांसी और बढ़ गई तो सरदार ने-कुंवर जी भाई से कहा—"बापू को चिट्ठी लिख दो कि राजेन्द्र बाबू की खांसी का इलाज वैद्यों के पास नहीं है। आप ही के पास है। स्वराज्य मिलते ही इनकी खांसी मिट जाएगी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य-आन्दोलन के दिनों में ही व्यक्तित्व की दृष्टि से राजेन्द्र बाबू कितने महान बन चुके थे। साथ ही, स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में भी उनके व्यक्तित्व और बड़प्पन की परिकल्पना भी उन्हीं दिनों की जा चुकी थी।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, परिचय, प्रशस्ति, प्रचार और प्रतिष्ठा से परे राजेन्द्र बाबू के जीवन में मानवता का ऐसा सुन्दर और सांगोपांग प्रतिनिधित्व और विकास हुआ है कि लेखक को, विचारक को ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखते हुए यह कठिनाई सामने आती है कि वह ऐसे व्यक्ति के जीवन की अनन्त घटनाओं में से कौन-सी घटना चुने, किसका उल्लेख करे। जिसका समस्त जीवन ही प्रकाशमान हो, एक जाज्वल्यमान नक्षत्र ही नहीं, आभाशील शशि-सा शीतल तथा आलोकपुंज रवि-सा प्रखर और तेजोमय हो, उसके विषय में उसकी किसी कलाविशेष का उल्लेख कठिन ही होता है। ऐसे ही व्यक्ति इतिहास के निर्माता होते हैं। सृष्टि में सुन्दरता की तुलना में अनेक वस्तुएं आती हैं, इनमें नारी-सौन्दर्य कदाचित् सबसे आगे है, किन्तु इन्सानियत से भरे इन्सान से और कौन वस्तु सुन्दर हो सकती है? विधाता की इस सृष्टि में राजेन्द्र बाबू एक ऐसे ही सुन्दर रत्न थे। जैसा कि पीछे उल्लेख हुआ है, वह बाहर से अपनी आकृति में सुन्दर नहीं थे। यही नहीं, छवि छटाविहीन श्याम वर्णवाली आकृति में अस्त-व्यस्त, आड़ी-टेढ़ी, उल्टी-सीधी वेशभूषा के कारण असुन्दर ही दीखते थे, किन्तु उनका आन्तरिक सौन्दर्य! कौन पा सकता है उसे? दोनों हाथ जोड़कर हृदयपूर्वक जब वह नमस्ते करते भीड़ के बीच चलते तो स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी उनकी इस हद दर्जे की शालीनता, शिष्टता और नम्रता पर दंग रह जाते। उस समय उनकी शोभाश्री देखते ही बनती। फिर इस सौन्दर्य के श्रृंगार में उनकी बाल-सुलभ चित्त वृत्तिवाली निर्मलता और इस निर्मलता के साथ

हृदय की भावुकता। सोने में सुगंध का मिलन हो गया था। वह अपनी इस भावुकता के बहाव में सेवाग्राम या साबरमती आश्रम में प्रवेश करते ही बहे बिना न रहते और बापू की पुण्यस्मृति से जब उनकी आंखें डबडबा आतीं तो दूसरे दिन अखबारों में मोटे अक्षरों में छपता, "राष्ट्रपति रो पड़े।" इस प्रकार उनकी भावुकता-भरे इन प्रसंगों से सारा देश भली भांति परिचित है। किन्तु इस भावुकता के बावजूद राजेन्द्र बाबू भगवान रामचन्द्र के सम्बन्ध में कहे गए—"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" कथन के सर्वथा अनुरूप बने रहे। जो वस्तु उन्हें प्रिय होती उसके विछोह-वियोग के सन्ताप या उसकी अनिष्ट अथवा अमांगलिक कल्पना से वह रो तो लेते, पर अपनी निस्पृहतावाले उच्चादर्श से तिल-मात्र डिगे बिना ही उनकी यह भावुकता अपना काम कर जाती थी। फिर भावुक हृदय होते हुए भी वह वाणी के ऐसे संयमी और धनी थे कि उनका प्रत्येक मत लोककल्याण और लोकहित की दृष्टि से ही निकलता था। लोकहित की दृष्टि से ही वह लिखते थे, लोकहित की दृष्टि से ही वह बोलते थे और लोकहित के लिए एक साधक की भांति चुप रहना भी वह अच्छी तरह जानते थे। जवाहरलालजी अक्सर कहा करते थे कि "राजेन्द्र बाबू का अपनी ज़बान, दिल और कलम तीनों पर काबू है, जबकि मेरा इन तीनों में से किसीपर भी नहीं।" हिन्दी के वे इतने समर्थक थे, यह उनके संविधान सभा के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण के इस कथन से ही सिद्ध हो जाता है कि भारत का संविधान हिन्दी में ही बने, यह उनकी इच्छा थी जो पूरी न हो सकी और यही उनका संयम भी था, अन्यथा राजेन्द्र बाबू की इच्छापूर्ति उस समय असम्भव न थी।

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू का समूचा जीवन सफलता, सिद्धि और प्रसिद्धि की एक ऐसी कहानी बन गया है जिसके नायक और निर्माता राजेन्द्र बाबू ही थे। एक साधारण स्तर से अपनी प्रखर प्रतिभा, कर्मठता और त्याग-बल पर यह एक ऐसी उपलब्धि थी, जो नत से उन्नत अथवा समतल से जीवन के सर्वोच्च शिखर की यात्रा का एक सुन्दर और समुज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करती है। उनका सीधा-सादा समग्र जीवन मानव-जीवन के बड़े आदर्शों का एक ऐसा विनम्र साक्षी था जिसपर आज हर भारतीय गर्व करता है और भविष्य में करता रहेगा। भारत का आधुनिक इतिहास बापू के बाद राजेन्द्र बाबू

के इस व्यक्तित्व और कृतित्व की आभा से ही आलोकित होगा, इसमें दो मत नहीं हो सकते। आदर्श और आचरण की एकरूपता में तो उन्होंने जो आदर्श और मान्यताएं स्थापित की हैं, वे भारतीय गणतंत्र के इतिहास में राष्ट्रपति-पद पर आनेवाली भावी पीढ़ियों का सदा पथ-प्रदर्शन करती रहेंगी।

विदा

लगभग बारह वर्ष भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति रहने के बाद राजेन्द्र बाबू स्वैच्छिक रूप से जब इस पद से मुक्त हो रहे थे तो सारे देश के लिए उनकी पद-निवृत्ति का यह प्रसंग चर्चा का विषय बन गया। दिल्ली में आए दिनों राष्ट्रपति-भवन में सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थाओं की ओर से उन दिनों राजेन्द्र बाबू के अभिनन्दन के जो आयोजन हुए उनसे राजेन्द्र बाबू के प्रति देश के प्रेम और ममता का परिचय मिलता था। सभी वर्गों, धर्मों, संप्रदायों और संस्थाओं की ओर से राष्ट्रपतिजी को विदा किया जा रहा था और इस विदा-वेला में इन आयोजनों के माध्यम से जो भाव व्यक्त किए जाते उनमें ममता और करुणा का ऐसा विचित्र योग रहता कि दर्शकों का दिल भर आता, नेत्रों से अश्रुप्रवाह हो उठता। इस प्रसंग में दिल्ली में कुछ मित्रों की राय से राजधानी की ओर से एक व्यापक विदा-आयोजन करने की बात सोची गई। प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू से राय और अनुमति लेने का कार्य मुझे सौंपा गया। मैं पंडितजी से मिला और उनसे राय मांगी। उन्हें यह विचार बहुत पसन्द आया और उन्होंने स्वेच्छा से राष्ट्रपतिजी की विदाई के लिए दिल्ली में जो समिति बनी उसमें एक सदस्य के रूप में रहने के लिए अपना नाम दे दिया। डा० राधाकृष्णन् जो उप-राष्ट्रपति थे, इस समिति के प्रधान बने। और भी सारे मन्त्रिगण, अधिकारी, सर्वदलीय नेता, नागरिक इस समिति में थे। मैं इसका संयोजक था।

१० मई, १९६२ को आयोजन दिल्ली के उस प्रसिद्ध रामलीला मैदान में होने जा रहा था जहां राजेन्द्र बाबू के बारह वर्ष के राष्ट्रपतित्व-काल में विश्व की सभी बड़ी विभूतियों का आतिथ्य-सत्कार किया गया था और जिसमें दिल्ली के लाखों लोगों ने राजेन्द्र बाबू के भी अनेक बार दर्शन किए थे, भाषण सुने थे, एवं प्रेरणा ग्रहण की थी। आज दिल्ली की वही जनता अपने उसी नेता को अपने बीच से विदा करने उपस्थित हो रही थी। अजीब दृश्य था! राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में जब-जब जनता से संपर्क की आवश्यकता पड़ती, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू आदि हमारे राष्ट्रीय नेता जनता को आह्वान करते और वह लाखों की संख्या में निश्चित समय पर एकत्र हो जाती। हमारे उक्त नेताओं ने जब-जब जनता का आह्वान किया, उसने सदा अपने अपूर्व उत्साह से हमारे नेताओं का अनुसरण किया है, कभी उनकी अवज्ञा नहीं की। यह गांधी-युग की एक महान देन थी। किन्तु दस मई का यह आयोजन, जिसमें लाखों लोग रामलीला मैदान में उपस्थित थे, किसी नेता का आह्वान न होकर स्वयं जनता द्वारा उसके नेता का आह्वान था, उसे विदा देने को। राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण करने पर तो शासकीय स्तर पर विदाई की व्यवस्था हो ही रही थी, दिल्ली की जनता तो अपने नेता अजातशत्रु देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद का इस विदा-वेला में वन्दन-अभिवादन करना चाहती थी।

सन्ध्या समय लगभग छः बजे रामलीला मैदान लाखों के आलम से भर गया। देश के चोटी के नेतागण, जिनमें केन्द्रीय सरकार के अधिकारी, साहित्यकार और विभिन्न दलों के लोग भी शामिल थे, तथा विदेशी अतिथिगण सब एकत्र हो गए। पं० जवाहरलाल नेहरू लगभग बीस मिनट पूर्व स्वागत-व्यवस्था का निरीक्षण करने सभास्थल पर पहुंच गए। पंडितजी ने अपनी बाल-सुलभ चंचलता से रेलिंग पर चढ़ चतुर्दिक दृष्टि दौड़ाई, उन्होंने जनता को देखा और जनता ने उन्हें। आखों से आंखें लड़ीं और फिर क्या था, 'जवाहरलाल नेहरू की जय' के जयकारों से गगन गूंज उठा। एक क्षण बाद वे ऊपर मंच पर पहुंच व्यवस्था का निरीक्षण करने लगे। इसी बीच ज़ोर के आंधी-तूफान के साथ बारिश आ गई। यह दृश्य देखने काबिल था। ओराधार पानी बरस रहा था, किन्तु एक भी आदमी जनसमूह को इस

भीड़ से हटा नहीं, सभी लोग अपने-अपने स्थान पर खड़े उत्सुकता-भरी दृष्टि से राजेन्द्र बाबू के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। सभा-मंच के सामने कुछ दूर तक जो बिछायत थी उसे लोगों ने उठाकर अपने सिर पर तान लिया था, बरसते पानी में इस बिछायत ने जो राऊटी का काम किया उससे झोपड़ियों का सा दृश्य सामने आ गया। जिसे देख याद आया दीन-दुखियों और झोपड़ियों के प्रतिनिधि राजेन्द्र बाबू के आगमन और स्वागत की उत्सुकता में दिल्लीवासी नगरनिवासियों के रूप में मानो गृह-घर विहीन और झोंपड़ी वाले वे करोड़ों भारतीय आज यहां इकट्ठे हुए हैं जिनके सच्चे नेता और रहनुमा अजातशत्रु राजेन्द्र बाबू ही हैं।

राजेन्द्र बाबू के आगमन का समय तेज़ी से गुज़रने लगा। पानी रुकने का नाम नहीं ले रहा था। भय हो रहा था कि अब क्या होगा। किन्तु एक क्षण में पलक मारते ही देखा, इधर अचानक पानी बरसना बन्द हो गया और उधर राष्ट्रपतिजी के आगमन के सन्देशवाहक उनके पायलटों की मोटर साइकिलों की आवाज़ सुनाई दी। क्षण-भर में राष्ट्रपतिजी सभास्थल पर पहुंच गए, जहां पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनकी अगवानी कर स्वागत किया। सभामंच पर राष्ट्रपतिजी के साथ उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्, डा० जाकिर हुसैन, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, श्री रामधारीसिंह दिनकर, दिल्ली नगर निगम के महापौर नूरुद्दीन साहब तथा मैं भी उपस्थित था। राष्ट्रपतिजी के पदार्पण के साथ ही कार्यवाही प्रारम्भ हुई और दिल्ली नगर-निवासियों, नगर निगम तथा विभिन्न संस्थाओं की ओर से उनके अभिनन्दन-स्वरूप उन्हें एक वृहद् मानपत्र इस अवसर पर समर्पित किया गया। इस अवसर पर कुछ भाषण भी हुए जिनमें डा० राधाकृष्णन् और पं० जवाहरलाल नेहरू के भाषण तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का कवितापाठ मर्मस्पर्शी था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में भावपूर्ण शब्दों में कहा—"यह बारह साल का ज़माना तो डा० राजेन्द्रप्रसाद का ज़माना कहलाएगा।" डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने भी इस अवसर पर अपना आभार भाषण दिया जिसमें उन्होंने अपना हृदय रख दिया। उन्होंने कहा—"मैं इस पद से मुक्त होते हुए ऐसा अनुभव कर रहा हूं जैसे पाठशाला से छुट्टी मिलने पर बालक को प्रसन्नता होती है। अब मैं आज़ादी

से अपनी वात कह सकूंगा।"

अपने को एक वालक और राष्ट्रपति भवन को पाठशाला कहकर राजेन्द्र वावू ने अपने इस छोटे-से कथन में न केवल अपनी विनम्रता, सहृदयता और उदारता का ही परिचय दिया, अपितु राष्ट्रपति भवन और राष्ट्रपति-पद की एक गम्भीर और दार्शनिक व्याख्या भी कर दी। अपने उक्त कथन के साथ ही राजेन्द्र वावू ने अपने कार्यकाल में हुई त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना करते हुए जो शब्द कहे वे मार्मिक तो थे ही, एक महान सांस्कृतिक और सन्त पुरुष का हृदय भी इन शब्दों में प्रतिविम्बित हो उठा था। उन्होंने कहा—"मुझसे यदि कुछ त्रुटियां हुई हों तो उनके लिए परमात्मा से और आप सवसे क्षमा चाहता हूं।" त्रुटियां हों या न हों, त्रुटियों का होना तो स्वाभाविक है, फिर स्वाभाविक वात को सीधे-सादे शब्दों में स्वीकार कर लेना और अस्वाभाविक तथा अनहोनी वातों को प्रयत्न और पुरुषार्थ से प्राप्त करना ही राजेन्द्र वावू का दर्शन था। उनके जीवन की यही असाधारणता थी। फिर विदा अथवा कार्य-परिणति के प्रसंगों पर क्षमा-याचना हमारी परम्परा का एक पावन गुणधर्म है, हमारी संस्कृति का भूपण है। भला राजेन्द्र वावू, जो आधुनिक प्रगति के पोषक होते हुए भी परम्पराप्रिय थे, अपनी परम्परा के इस विशिष्ट गुण-धर्म के निर्वाह से कैसे चूक सकते थे! उनके इन शब्दों में "सरल स्वभाव छुवा छल नाहीं" वाला उनका मानस और समग्र जीवन पूर्णतया अभिव्यक्त हो उठा था। राजेन्द्र वाबू के इस कथन के साथ ही 'राजेन्द्र वावू' के जयघोष से सारा वातावरण निनादित हो उठा। मेरी आंखों में आंसू उमड़ आए और क्षण-भर के लिए मैं राजेन्द्र वावू के निस्पृह और नरश्रेष्ठ रूप की झांकियों में खो गया।

राजेन्द्र वावू की विदाई का यह समारोह क्या था, जीवन का एक ऐसा मार्मिक प्रसंग जो था क्वचित् ही ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन में आता है। उस दिन का वह दृश्य और उसमें हुई वातें अनेक बार मुझे वेचैन करती रहीं और राजेन्द्र वावू के जाने के बाद तो और अधिक।

इसके बाद शासकीय स्तर पर जब डा० राधाकृष्णन् ने राष्ट्रपति का पद-भार सम्भाला और संसद् भवन के एक भव्य समारोह में उन्होंने भारत

के प्रथम भद्र पुरुष अजातशत्रु डा० राजेन्द्रप्रसाद को 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित किया, उस समय का दृश्य बड़ा ही मार्मिक और हृदयग्राही था। दिनांक १३ मई को डा० राजेन्द्रप्रसादजी एक विशेष ट्रेन से पटना प्रस्थान कर रहे थे। ट्रेन नई दिल्ली स्टेशन पर लगी थी। राष्ट्रपति-भवन से डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी छः घोड़ों की राजकीय सवारी में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णंन् के साथ स्टेशन पहुंचे। राष्ट्रपति भवन से स्टेशन तक मार्ग में दोनों ओर हज़ारों की संख्या में जनसमूह अपने प्रिय नेता और राष्ट्रपति को विदा करने मौजूद था। राजेन्द्र वावू वग्घी में बैठे-बैठे ही दोनों हाथ जोड़े मार्ग के दोनों ओर खड़ी जनता का अभिवादन स्वीकार करते जाते। जनता राजेन्द्र बाबू का जयघोष कर उनपर पुष्प-वृष्टि करती। यह दृश्य देखते ही बनता। नई दिल्ली स्टेशन पर ज्योंही राजेन्द्र वावू पहुंचे, जनता का आलम वढ़ गया। सुरक्षा की दृष्टि से प्लेटफार्म पर केवल उन्हीं लोगों को जाने की इजाज़त थी जिनके पास प्रवेशपत्र थे। इनमें केन्द्रीय सरकार के मन्त्रिगण, संसद् सदस्य, अधिकारी, विदेशी लोग, पत्रकार और नागरिकों का स्टेशन पर ही ऐसा आलम जमा हो गया था कि पैर रखने को जगह नहीं थी। राजेन्द्र बाबू विशेष ट्रेन में अपने वातानुकूलित डिब्बे में आरम से बैठे हुए थे और लोग वारी-वारी से जाकर उनसे मिल आते थे। मुलाकात का यह क्रम काफी देर तक चलता रहा। जव ट्रेन के जाने का समय हुआ तो प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलालजी जो यद्यपि स्टेशन पर काफी देर से थे और राजेन्द्रबावू से मिल भी चुके थे, किन्तु ट्रेन रवाना होने के कुछ ही पूर्व राजेन्द्र वावू के डिब्बे में घुसे और उनके गले में बाहें डालकर लिपटकर रो पड़े। राजेन्द्र वाबू और पं० जवाहरलाल नेहरू राष्ट्र के दो नायकों की यह मार्मिक भेंट जहाज़ के उन दो पतवारों की भांति थी जिन्होंने सर्वाधिक रूप से राष्ट्र के जहाज़ को स्वाधीनता-प्राप्ति के वाद, विशेष रूप से गणतन्त्र के इन वारह वर्षों में, खेकर आगे वढ़ाया है। आज राजेन्द्र बाबू रूपी एक पतवार अलग हो रही थी, इसी भावपूर्ण वेदना के वशीभूत हो पं० जवाहरलालजी करुणा से भर उठे।

राष्ट्रपतिजी की विशेष ट्रेन ने ज्योंही सीटी दी, प्लेटफार्म के वाहर खड़ी जनता का आलम बेचैन हो उठा। सुरक्षा-प्रबन्ध के कारण प्लेटफार्म

पर लोगों को जाने से रोक रक्खा था, गाड़ी आहिस्ते-आहिस्ते नई दिल्ली स्टेशन का प्लेटफार्म छोड़ने लगी और बाहर जनता इधर-उधर दौड़कर उस विशेष ट्रेन से जानेवाले अपने प्रियतम राजेन्द्र बाबू के दर्शनों की उत्कण्ठा में यहां से वहां दौड़-भाग करने लगी। जनता की दौड़-भाग का यह दृश्य बड़ा ही मार्मिक था। यह दृश्य देख मुझे गोस्वामी तुलसीदासजी का "एक मिलत दारुण दुःख देहीं, बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।" कथन बरबस याद आ गया। राजेन्द्र बाबू के इस विदा-प्रसंग में लोगों के दिल में उनके प्रति जो ममता, प्यार और मुहब्बत थी वह उन्हें बरबस राजेन्द्र बाबू की ओर खींच रही थी, और इस खिचाव में मुहब्बत का जो एक दर्द होता है, एक कसक, एक पीड़ा होती है, उसके वशीभूत हो दिल्ली का यह नरसमूह जैसे-जैसे ट्रेन आगे बढ़ती उसकी ओर भाग रहा था—अपने नेता, नायक, रहनुमा और प्रियतम के अंतिम दर्शनों के लिए।

हमारे यहां एक आम कहावत है कि "डूबते सूरज को कौन पूजता है।" सचमुच कोई नहीं पूजता। पूजने से अभिप्राय भी क्या! हम तो उस नवोदित सूर्य के पूजक, प्रशंसक और उपासक हैं जो हमें रोशनी देता है, यही नहीं हमारा जीवनदाता है। किन्तु राजेन्द्र बाबू के इस विदा-प्रसंग ने हमारे इस विश्वास को, हमारी इस मान्यता अथवा कहावत को सर्वथा बदल दिया था। पिछले कुछ दिनों से राष्ट्रपति-भवन और नई दिल्ली का जो वातावरण बन गया था तथा उसके बाद विशेष रूप से दस मई से तेरह मई तक इन तीन दिनों में जैसा अभूतपूर्व, ममत्वपूर्ण और कारुणिक दृश्य राजेंद्र बाबू की विदाई के इस अवसर पर उपस्थित हुआ उसे देख जान पड़ता, देश की हृदयगत करुणा जो देशरत्न के प्रति उसने अपने हृदय में संजो रक्खी थी, दिल्ली की गली-कूचे और सड़कों से सरिता-सी प्रवाहित हो रामलीला मैदान, संसद् भवन और अन्तिम दिन नई दिल्ली स्टेशन पर समुद्र की तरह उमड़ रही थी। स्वाभाविक ही था आज न केवल भारत की कोटि-कोटि जनता का नेता और रहनुमा अपने पद-भार से विदा हो रहा था वरन् समुद्र की भांति मर्यादित उसकी परम्परा, संस्कृति और सामर्थ्य का प्रतीक भारत का वह सिंधुराज विदा हो रहा था, जो अपने शील, शौर्य, धीरता और गम्भीरता में अब तक भारत-सिंधु का प्रतिनिधित्व करता रहा है।

राजेन्द्र बाबू अपने सैलून में समुद्र की भांति ही धीर, गम्भीर और शांत बैठे थे। प्लेटफार्म और उसके बाहर ऊर्मियों और लहरों की भांति जन-समूह लहलहा रहा था। जान पड़ता, समुद्र की काया रेल के डिब्बे में थी और उसकी आत्मा बाहर स्पन्दन कर रही हो। ठीक ही तो है, समुद्र से ही सूर्योदय होता है और उसीमें सूर्यास्त भी। दोनों का अन्योन्य संबंध है, आत्मीय सम्बन्ध है, और इसीलिए जिस जनता के लिए आज पर्यन्त राजेन्द्र बाबू अविराम श्रम करते रहे और उसके दुःख से दुःखी तथा उसे समुन्नत एवं सुखी बनाने को विकल रहे, वही जनता आज उनके लिए विकल हो तो आश्चर्य की बात ही क्या है !

राजेन्द्र बाबू की विदाई का यह प्रसंग, इस अवसर पर उनका स्वागत-वन्दन-अभिनन्दन सभी कुछ जैसा करुणा-प्रेरित और ममत्व की पीड़ा से भरा हुआ था उसे देख जान पड़ता यह डूबते हुए सूरज की पूजा नहीं है वरन् उस सूरज की पूजा है जो अपने उदय के साथ आज पर्यन्त अपने निष्काम सेवामय कर्मशील सार्वजनिक जीवन के पचास वर्षों में एक क्षण को भी डूबने की तो कहे कौन भारतीय गगन से ओझल नहीं हुआ है।

जीवन-दर्शन

'जीवन-दर्शन' शब्द ही व्यक्ति के जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का निर्देशक है। दृष्टिकोण अथवा उद्देश्यहीन न कोई व्यक्ति होता है और अपवाद रूप ऐसे हुए भी तो फिर उनका कोई जीवन नहीं होता। जीवन का अर्थ जिस प्रकार एक गतिशील ज्वलन्त स्थिति है उसी प्रकार दर्शन भी एक परिपक्व और परिपुष्ट तथा स्पष्ट उद्देश्यपूर्ण स्थिति का परिचायक होता है। एक निश्चित अवस्था पर यह स्थिति सभी व्यक्तियों के सम्मुख आती है और सभीको जीवन के चौराहे पर खड़े हो अपना एक निश्चित और स्पष्ट दृष्टिकोण, लक्ष्य अथवा जिसे जीवन-दर्शन कहें, निश्चित करना होता है। जीवन के ऊबड़-खाबड़ धरातल पर अनेक लोगों को अपने निश्चित दृष्टि-

कोण, लक्ष्य अथवा दर्शन में परिस्थितिवशात् परिवर्तन करने को भी वाध्य होना पड़ता है और इस परिवर्तन के अनेक वार वड़े व्यापक और दूरगामी परिणाम देखने में आते हैं। व्यक्ति का जीवन-दर्शन दो दृष्टियों से, दो क्षेत्रों में प्रेरित और प्रभावित होता है, एक व्यष्टि के दूसरा समष्टि के।

इस निरवधि काल में विपुल पृथ्वी पर कभी-कभी ऐसे महापुरुष भी आ जाते हैं जिनका दिक्काल से अविच्छिन्न प्रभाव लोक मात्र के लिए एक अनन्त आलोक की सृष्टि कर जाता है। राजेन्द्र वावू ऐसे ही विश्ववन्धु युग-पुरुषों में थे। वे सारे संसार और अखण्डकाल के लिए कुछ अनुपम, अखण्ड और अमिट आभा छोड़ गए हैं।

जैसाकि पुस्तक के व्यक्तित्व अध्याय में सरोजिनी नायडू का यह कथन कि "वावू राजेन्द्रप्रसाद के भव्य व्यक्तित्व के वारे में स्वर्ण लेखनी को मधु में डुवोकर लिखना होगा" आया है; अनेक विद्वानों ने अनेकों जगह इसे उद्धृत किया है क्योंकि इसमें काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त यथार्थ का आकर्षण भी है। राजेन्द्र वावू के स्वभाव में सचमुच ही मधु की मिठास और उनके त्याग-तप में सोने को भी मात करनेवाली चमक थी—कुछ ऐसी चमक जो धूल पर भी पड़े तो उसमें सोने का रंग भर दे।

यही कारण है कि आधुनिक भारत के मनीषी और तत्त्व-चिंतकों में डा० राजेन्द्रप्रसाद का प्रथम स्थान है। उनके जीवन का अधिकांश भाग या तो राष्ट्र के लिए संघर्ष करने में वीता है या राष्ट्र-निर्माण में लगा है। पश्चिमी विचारों का भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में जो समन्वय राजेन्द्र वावू के जीवन में दिखाई देता है वह अन्यत्र मिलना कठिन है।

आज से लगमग पचास वर्ष पहले राजेन्द्र वावू ने गांधी मार्ग का जो रास्ता पकड़ा था, अन्त तक वे इसी पथ के पथिक रहे। यह वड़ी वात न होकर वड़ी वात तो यह है कि उनका सम्पूर्ण जीवन उसीसे ओत-प्रोत रहा। यही कारण है कि उनके सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में कहीं कोई व्यवधान नहीं रहा और अपने सभी कामों को उन्होंने इसी पैमाने से नापा। और उनके मन में देश का हित ही सर्वोपरि रहा। मन, वचन और कर्म से वे अहिंसा को अपना मूल-मंत्र मानते रहे, पर राष्ट्रीय एकीकरण के लिए जनमानस के आग्रह पर उन्होंने विष का पान किया, जिसके कारण
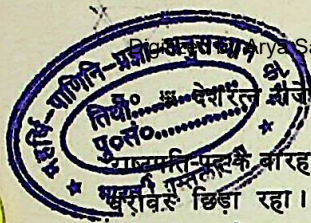
राष्ट्रपति-पद के बारह वर्षों तक हिंसा और अहिंसा का अन्तर्द्वन्द्व उनमें बराबर छिड़ा रहा। इस बात का स्पष्ट आभास तब मिला जब उन्होंने राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण करने के कुछ दिन बाद ही निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से यह घोषणा की कि सम्पूर्ण संसार में शांति के लिए प्रयत्नशील भारत सबसे पहले निःशस्त्रीकरण करके इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

राजेन्द्र बाबू अहिंसा के प्राण-तत्त्व 'अभय' के मूर्तिमान रूप थे। यही वजह थी कि उन्होंने मन, वचन और कर्म से अहिंसा का वरण किया था। वे व्यक्ति को भौतिक सम्पत्ति और शक्ति के स्थान पर आत्म-शक्ति से समृद्ध करने के पक्षपाती थे। उनका मत था कि आत्म-शक्ति से सशक्त और सुदृढ़ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र ही अक्षय और अजेय हो सकता है, मात्र भौतिक शक्ति से नहीं। राजेन्द्र बाबू सच्चे अहिंसावादी थे क्योंकि उनमें अपार आत्म-बल था। वे शांतिवादी थे क्योंकि उनके भीतर शक्ति विराज रही थी।

अक्तूबर १९६२ में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो राजेन्द्र बाबू ने, जो अब राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण कर चुके थे, पटना में एक सार्वजनिक सभा में बड़े ही सारगर्भित और मार्मिक शब्दों में आज़ादी की रक्षा के लिए जनता से अपील की। चीनी आक्रमण की चुनौती का सामना करने के लिए पटना में बांकीपुर के उस पुराने लान और आज़ादी के बाद के गांधी मैदान में राजेन्द्र बाबू के आह्वान पर जो यह सभा हुई, कहते हैं इतनी बड़ी आम सभा कभी नहीं हुई, जब गोलघर के भूरे मुंडेरों को भी रंग देनेवाली उस ढलती संध्या में राजेन्द्र बाबू ने तालियों की गड़गड़ाहट के बीच घोषणा की—

"हमने अहिंसा के द्वारा एक ऐसी ताकत से आज़ादी ली जो दुनिया की सबसे बड़ी ताकतों में गिनी जाती थी। आज दूसरा समय आया है और अहिंसा से महात्मा गांधी ने जो आज़ादी प्राप्त की उसे आवश्यकतानुसार हिंसा और अहिंसा, दोनों ही तरीकों से बचाना है। जो हिंसा के रास्ते से चलकर देश को बचाना चाहते हैं, वे उस रास्ते आगे बढ़ें; जो अहिंसा से ही आज़ादी की रक्षा करना चाहते हैं, वे उस रास्ते से आगे बढ़ें। पर आज

यह सोचने का समय नहीं है कि कौन रास्ता अच्छा है और कौन बुरा। मूल बात यह है कि हमें हर स्थिति में भारत को स्वतन्त्र रखना है।"

राजेन्द्र बाबू के स्वर में उस दिन वैसी ही आंच थी जैसी 'भारत छोड़ो' का उद्घोष करते समय महात्मा गांधी की वाणी में थी।

मूलतः शांतिवादी राजेन्द्र बाबू ने देशवासियों का आह्वान करते हुए कहा—"संसार इस बात का साक्षी है कि भारतीय गणराज्य ने किसी भी देश की ओर बुरी नज़र से नहीं देखा है। पर लड़ाई के समय हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हम आवश्यकतानुसार कहीं भी जाकर शत्रु का मुकाबिला करें। चीन जहां से चोरों की तरह हमारी भूमि में घुसा, वहीं से उसके पांव उलट देने चाहिए। यदि चोरी-चुपके दो-चार चीनी आक्रामक हमारे गांवों में पहुंच जाएं तो हमें देखना है कि उन्हें खाने-पीने और रहने के लिए जगह न मिले और यदि वे मर जाएं तो हमें यह देखना चाहिए कि उनकी लाशें गाड़ने के लिए जगह न मिले।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजेन्द्र बाबू नई पीढ़ी के लोगों के लिए राष्ट्रपति-भवन से ज्यादा सदाकत आश्रम आकर राष्ट्र के सर्वोच्च प्रेरणा-स्रोत बन गए थे।

उपनिषद् में उल्लेख आया है कि—"विश्व का अस्तित्व स्वतंत्रता में है, उसीमें इसका उदय है, उसीमें इसका लय।" अतः लोकमान्य के शब्दों में स्वाभाविक ही स्वाधीनता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। मानव के इस अधिकार पर जब भी और जहां भी कुठाराघात हो अथवा उसका अपहरण होता है, कोई भी विचारक, मनीषी और सद्पुरुष उसे सहन नहीं करेगा, उसका विरोध करेगा और प्रतिरोध करेगा। तिब्बत पर चीन का आधिपत्य स्वीकार किए जाने के प्रश्न पर उस वक्त राजेन्द्र बाबू ही मात्र एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने इसे अनुचित ठहराया था और बाद में उन्होंने अपना यह मत व्यक्त भी किया।

गांधीजी ने कहा था कि यदि मेरा वश चले तो भारत का राजा किसान हो, क्योंकि इस देश का वही प्रतिनिधित्व करता है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद के बारे में गांधीजी का यह विचार पूरा उतरता है। सचमुच वे सच्चे किसान थे। उनके खान-पान, उनके

रहन-सहन, उनके व्यवहार, उनके आचार-विचार से वे सभी बातें झलकती हैं जो हमारे देश के सीधे-सादे किसान से सम्बन्धित हैं। हमारे देश में पश्चिमी दर्शन के प्रभाव के कारण आधुनिक पढ़े-लिखे लोग यह समझने लगे थे कि जीवन की सारी भूमि धर्म की भूमि नहीं है। उपनिषद्-काल में और बौद्ध तथा जैन युगों में धर्म को वरण करनेवाला व्यक्ति गृहस्थी छोड़कर संन्यास ले लेता था, क्योंकि उस समय यह समझा जाता था कि गृहस्थी और धर्म साथ-साथ नहीं चल सकते। धर्म तो एक विशेष प्रकार की साधना है। इसका सहारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए लिया जाता है। संसार के सभी देशों में किसी समय किसी सुधारक ने धर्म को अपने समस्त जीवन पर लागू करने का प्रयत्न किया था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। राजेन्द्र बाबू का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने गांधीजी के धर्म को जीवनव्यापी बनाने के दुस्साहसी प्रयोग को अपने व्यक्तिगत गृहस्थ और सामाजिक जीवन पर किया। अरविन्द को वे अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, पर गांधी को वे इसीलिए अपना गुरु मानते थे क्योंकि अरविन्द ने मानव-समाज की समस्याओं का यह निदान किया कि ये समस्याएं मनुष्य की बुद्धि से निकली हैं और उनका समाधान यह है कि मानव-समाज बुद्धि के स्तर से उठकर अतिमानस की अवस्था में पहुंच जाए। निदान तो गांधीजी का भी बहुत कुछ वही था, किन्तु समाधान में दोनों महात्माओं में भेद था। गांधीजी मनुष्य में धर्म की भावनाएं जगाकर उसकी पीड़ाएं दूर करना चाहते थे और गांधीजी के इस विचार को यदि किसी एक व्यक्ति ने साकार रूप प्रदान किया तो वे राजेन्द्र बाबू थे। उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस बात को बड़ी निष्ठापूर्वक लागू किया कि मानवता से एकाकार हुए बिना धर्म का पालन नहीं हो सकता इसीलिए उन्होंने राजनीति का क्षेत्र चुना। क्योंकि इस क्षेत्र में साधारण जन से एकाकार होने की सम्भावना अत्यधिक है। उन्होंने अनेक बार कहा भी था कि ऐसे धर्म से मेरा परिचय नहीं है जो मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है। उन्होंने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि धर्म किसी खास दिन या लग्न-विशेष का कृत्य नहीं है।

राजेन्द्र बाबू शिक्षा, संस्कृति और कला के संगम थे। विवेकानन्द,

अरविन्द और गांधी के समान वह यह मानते थे कि केवल आधिभौतिक विजयों और उपलब्धियों पर आश्रित अथवा अवस्थित सभ्यता न तो शान्तिदायिनी हो सकती है और न उसमें स्थायित्व ही आ सकता है। वह तभी आएगा जब वह धर्म से पूर्णरूपेण व्याप्त हो जाए। उनका मानना था कि जीवन धर्म से अलग होकर नीचे गिर जाता है और धर्म से मिलकर ऊपर उठने लगता है। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, लोकमान्य, अरविन्द और गांधी ने जो दर्शन तैयार किया था, कर्मक्षेत्र में उसको उतारने का भार राजेन्द्र बाबू जैसे विनम्र सेवक पर पड़ा।

चाणक्य और मेकियावली जैसे पंडितों की राजनीति से राजेन्द्र बाबू मुक्त थे। उनमें राजनीति के लिए छल, प्रपंच, मिथ्याचार और दांव-पेच मौजूद नहीं थे। वे मानते थे कि जिस राजनीति के हाथों प्रत्येक देश की जनता का भाग्य निर्णीत हो रहा है यदि वह ईर्ष्या, द्वेष, छल, प्रपंच और असत्य पर आधारित हो जाए तो विश्व-एकता की कल्पना कोरी कल्पना ही रहेगी और विज्ञान की शक्तियों का प्रयोग मनुष्य की हानि के लिए होता ही जाएगा।

राजेन्द्र बाबू ने अहिंसा को नीति मानकर नहीं सिद्धान्त मानकर जीवन में उतारा था। जिस समय गांधीजी के अहिंसा के प्रयोग पर सारा संसार हंसता था और बड़े-बड़े लोग यह कहकर शंका से सिर हिलाया करते थे कि इतिहास में कभी भी अहिंसक क्रान्ति नहीं हुई, उस समय अहिंसा में जो शक्ति छिपी है उसको राजेन्द्र बाबू ने भांप लिया था और उन्होंने यह भी समझ लिया था कि सच्ची अहिंसा भय नहीं प्रेम से जन्म लेती है, निस्स-हायता नहीं सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवन में सदैव एक सच्चे सत्याग्रही के विचार को साकार रूप दिया। उन्होंने सदैव ही इस बात का प्रयत्न किया कि प्रतिपक्षी के हृदय की कटुता को उसके भीतर की सद्भावना से स्थानान्तरित किया जाए। जैसा कि पहले कहा गया है, राजेन्द्र बाबू के इस अन्तरभाव का ही प्रभाव था कि गांधीजी के सत्य-अहिंसा के प्रयोग-काल में ही हठवादी और ईर्ष्यालु कायदे आज़म जिन्ना ने, जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच स्वाधीनता के प्रश्न पर गतिरोध उत्पन्न हुआ तो मात्र राजेन्द्र बाबू ही ऐसे व्यक्ति थे जिनसे बातचीत करना

मंजूर किया। अनेक दिनों तक कांग्रेस की ओर से राजेन्द्र बाबू और मुस्लिम लीग की ओर से कायदे आज़म जिन्ना की यह बातचीत सौहार्दपूर्ण वातावरण में चली थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार राजेन्द्र बाबू गांधीजी के सत्य-अहिंसा के प्रारंभिक दिनों और प्रयोग-काल में ही उनके सच्चे एकमात्र उत्तराधिकारी और देश के अजातशत्रु बन चुके थे।

राजेन्द्र बाबू महान आस्तिक और वैष्णव श्रेणी के भक्त थे। सर्वोत्तमवादी साधक परमात्मा को शैलों, पहाड़ों, तालों और समुद्रों में देखता है। रहस्यवाद अपने-आपमें अमूर्त वास्तविकता का दर्शन करता है और मूर्तिपूजक भक्त पत्थर की मूर्ति में ईश्वर की प्रतीति करता है। इन सबमें तो राजेन्द्र बाबू को परमात्मा की झलक मिलती ही थी, किन्तु उनके साथ उन्होंने परमात्मा के दर्शन सदाचार में किए। उनके लिए ईश्वर सत्य और प्रेम नैतिकता और सदाचार था। आधुनिक युग में भक्ति और रहस्यवाद में कोई विशेष श्रद्धा नहीं रह गई है। ऐसे शंकालु युग में राजेन्द्र बाबू पैदा हुए। वे मानते थे कि धर्म का वास्तविक अनुसरण नैतिकता के पालन में है। वे प्रार्थना में पूरा विश्वास रखते थे। उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था और आत्म-निवेदन के भाव से भरपूर था। वे कहते थे कि प्रार्थना आत्मशुद्धि का आवाहन है। वह विनम्रता को निमंत्रण देती है। राजेन्द्र बाबू इतने अधिक विकसित हुए कि अन्त में वे ऐसी जगह पहुंच गए जहां सभी धर्म मनुष्य को ले जाना चाहते हैं। वे अच्छे हिन्दू भी थे, अच्छे मुसलमान भी थे और अच्छे ईसाई भी।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे धर्मान्ध थे। सचमुच में वे विवेकी थे और प्रत्येक बात को धर्म की कसौटी पर, उस धर्म की जिसमें मानवजाति के अधिकारों और उपलब्धियों के लिए अवसर, साधन और स्वतंत्रता समान स्तर पर सुलभ हो, कसना उनकी आदत बन चुकी थी। रूढ़ियों और अंधविश्वासों की वे बड़ी निन्दा करते थे।

राजेन्द्र बाबू वैरागी के वैरागी और गृहस्थ के गृहस्थ थे। वे क्रान्तिकारी थे किन्तु क्रान्ति के पक्ष में वे जिन शक्तियों को जाग्रत् करते थे, उन्हें अपने नियन्त्रण में ही रखने की कोशिश करते थे। वे प्रतिमापूजक थे, किन्तु वे आराधकों को ऊंचे स्तर पर ले जाकर प्रतिमाओं के दर्शन करने की

शिक्षा भी देते थे। वे वर्णाश्रम के विश्वासी थे, किन्तु जाति-प्रथा को अभिशाप मानते थे। वे काम-भावना को मनुष्य की नैतिक प्रगति में बाधक मानते थे, किन्तु नारी-जाति के प्रति उनके मन में अत्यधिक आदर और कोमलता का भाव था। राजेन्द्र बाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जो सुधार वे दूसरों को सिखाना चाहते थे उन सुधारों को पहले वे अपने जीवन में उतार लेते थे। गांधीजी के अन्य गुण-धर्मों के साथ उन्होंने इसे भी सर्वोपरि रूप से अपने जीवन में उतारा जो जीवनपर्यन्त उनमें विद्यमान रहा।

उदाहरण के लिए, गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए तथा सर्वोदय सिद्धान्तों में निष्ठा रखने के लिए जब आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय पात्र की योजना का विचार जनसाधारण को दिया तो राष्ट्रपति होते हुए भी राजेन्द्र बाबू प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सबसे पहले राष्ट्रपति-भवन में सर्वोदय पात्र रखा और जब तक वे राष्ट्रपति रहे तब तक नित्य ही मुट्ठी-भर अन्न सर्वोदय पात्र में डालते रहे।

उनका सारा दृष्टिकोण सदाचार का और पवित्रतावादी था। यह कोई उनका प्रयोग नहीं था वरन् ये सिद्धान्त उनके जीवन से निकले थे।

राजनीति राजेन्द्र बाबू को अपने में आत्मसात् नहीं कर सकी, वह तो उनके लिए मातृभूमि की मुक्ति और मानवता की सेवा का एक साधन-मात्र रही। वस्तुतः राजेन्द्र बाबू राजनीति के पुरुष नहीं थे, वे तो धार्मिक नेता भी थे। लेकिन उनका धर्म किसी गुरुमुख से लिया हुआ धर्म नहीं था, न उन्होंने सम्प्रदाय-विशेष के धर्म को अपना धर्म माना। वे तो 'वसुधैव कुटम्बकम्' और 'सर्व धर्म समभाव' वाले धर्म के अनुवर्ती थे।

राजेन्द्र बाबू कला को कौतूहल या मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। उनका कहना था कि वह वर्तमान और भावी जीवन की आवश्यकता तो है ही हमारे गौरवपूर्ण अतीत का भी वह प्रतिनिधित्व करती है। वे मानते थे कि कला व्यक्ति के कल्याण का साधन है और सौन्दर्य के बारे में उनका मत था कि मूर्त्त वस्तुओं में सौन्दर्य को साक्षात् देखना और जीवन में उसे लाना, यही मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और आवश्यकता है। लौकिक उपकरणों को वे जीवन का साधन मानते थे, साध्य नहीं। शांतिमय साधनों

और आनन्दमय सार्थकता में ही वे शाश्वत जीवन का दर्शन करते थे।

अनेक व्यक्तियों का विचार है कि वे विज्ञान के विरोधी थे, किन्तु उन्होंने इसके वारे में अनेक वार कहा कि वास्तव में कोई व्यक्ति कभी विज्ञान के विरुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने से वह स्वयं ही प्रतिगामी वनता है। उनका मत था कि विज्ञान जब तक जन-कल्याण की भावना से विकसित होता रहा तब तक उससे मानव-समाज का हित ही होता रहा है और इसलिए यह समाज विज्ञान का विकास करते हुए भी धर्म की छत्र-छाया में रहकर दृश्य साधनों का साधन बना रहा। आज भी हमें वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ धर्म का सम्बल प्राप्त होना चाहिए। कुछ ऐसी मर्यादाएं होनी चाहिए जिनका पालन हमारे लिए अनिवार्य हो। इन मर्यादाओं से ही विज्ञान की आत्म-रक्षा हो सकेगी।

उनका दृष्टिकोण मानवीय था इसलिए वे प्रत्येक विचार को उसीकी कसौटी पर कसते थे। यन्त्रों के वारे में उनका कहना था कि मनुष्य यन्त्रों के लिए नहीं है यन्त्र उसके लिए हैं। यही नहीं, विज्ञान की शक्तियां भी मानव-कल्याण के लिए ही हैं। मानव उन शक्तियों के लिए नहीं। उनका मत था कि भौतिक विज्ञान भले ही अपने तीव्र प्रकाश से मनुष्य को कुछ समय के लिए चकाचौंध कर दे, किन्तु सभ्यता और संस्कृति को चिरस्थायी वनाने के लिए धार्मिक और नैतिक शक्तियां आवश्यक हैं और इनके लिए वलिदान और त्याग की आवश्यकता है जो अटूट विश्वास और चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है और राजेन्द्र वावू इसी जीवन-शक्ति को प्राप्त करके प्रथम सत्य, सौन्दर्य और कला की अनुभूति करना चाहते थे, जिसको जीवन का प्रथम उद्देश्य कहा है। यही कारण है कि वे ऐसे वैभव को दूर से ही नमस्कार करते थे जो मनुष्य को धर्म-विमुख कर अनैतिकता की ओर ले जाए। वे वस्तुतः स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए मृत्यु का वरण करना भी पसन्द करते थे।

राजेन्द्र वावू मात्र नेता अथवा शासक नहीं थे, वह तो राष्ट्रपुरुष भी थे। ऐसे राष्ट्रपुरुष जिनके मन, वचन और कर्मों में समग्र राष्ट्र की आत्मा निवास करती थी। उनके सब विचार और कार्य समग्र राष्ट्रहित की दृष्टि से प्रेरित होते थे। उनके जीवन में ऐसे भी अनेक प्रसंग उपस्थित हुए जो

उनके विचारों से मेल नहीं खाते थे, किन्तु उन्होंने उन्हें राष्ट्रहित में बर्दाश्त किया और कभी व्यवधान नहीं बने। राष्ट्रभाषा का प्रश्न उनके लिए एक ऐसा ही प्रसंग था। वे हिन्दी के न केवल प्रबल समर्थक थे अपितु, जैसाकि पीछे उल्लेख हुआ है, वे भारतीय संविधान तक मूल रूप से हिन्दी में बनाने के पक्षपाती थे। इसके बाद शासन-क्षेत्र में उसे समग्र देश के राजकाज की भाषा के रूप में व्यवहृत करने के वे स्वाभाविक रूप से ही पक्षपाती थे, किन्तु राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र-हित की दृष्टि से भगवान शंकर की तरह वे इस प्रश्न पर मौन रहे और गरल पान कर गए।

राजेन्द्र बाबू कितने बड़े राष्ट्रीयतावादी थे इस सम्बन्ध में यहां एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा।

राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे पटना आ गए। इन दिनों देश में कुछ आन्तरिक संकट उभर रहे थे। इन्हीं दिनों राजेन्द्र बाबू की धर्मपत्नी श्रीमती राजवंशी देवी का निधन हो गया था। अर्धांगिनी के वियोग की पीड़ा से व्यथित हृदय राजेन्द्र बाबू ने छज्जू बाग स्थित अपने अस्थायी आवास में राष्ट्रीय एकता पर विचार करने के लिए गोष्ठी बुलाई। इस गोष्ठी में उन्होंने जो भाषण दिया उससे उनके मन की वेदना का पता लगता है।

उन्होंने कहा—"स्वराज्य के पन्द्रह साल बाद भी हमें राष्ट्रीय एकता कायम रखने की बात सोचनी पड़ती है, पर यह असलियत है कि हम अपने मुल्क के लम्बे इतिहास में कई बार आपस की फूट से विदेशियों के शिकार बने। जिस स्वराज्य को सारे देश ने मिलजुलकर हासिल किया उसे हम मिलजुलकर ही कायम रख सकते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके मन में जीवन के अन्तिम दिनों तक राष्ट्रीय एकता की बात सर्वोपरि रूप में समाई हुई थी।

राजेन्द्र बाबू एक सर्वांगीण युगपुरुष थे और वे राजनीति, धर्म और संस्कृति के समन्वयकारी रूप का विकास चाहते थे। यही कारण है कि जहां वे पश्चिम की जनकल्याणकारी श्रेयस्कर उपलब्धियों को अपनाने से बिल्कुल भी नहीं हिचकिचाते थे वहां उसके साथ ही वे प्राचीन भारत के सांस्कृतिक मूल्यों को भी उतना ही अधिक प्रोत्साहित करना चाहते थे।

इसलिए वे जीवन को सर्वोत्तम कला मानते थे। क्योंकि वे समझते थे कि प्रकृति ने स्वयं मानव में कला की आत्मा को फूंका है और मानव स्वयं कला का जीता-जागता प्रत्यक्ष स्वरूप है जिसमें कला मृत्यु को प्राप्त न होकर जीवन के रूप में विकसित हुई।

इस प्रकार जीवन की समग्र आवश्यकताओं और पूर्णताओं के प्रतिनिधि राजेन्द्र बाबू भारत और भारतीय जनता के प्रथम प्रतिनिधि और भारत राष्ट्र के प्रथम नागरिक थे। उन्होंने अपने आचार और विचारों से अपने को भारतीय जनता की सेवा में पूर्णतया अर्पित कर दिया था। यहां तक कि सेवाभाव के इस सर्व-समर्पण में उनका अपना कुछ भी न रह गया था। इस सम्बन्ध में यहां एक घटना स्मरण हो आई। संविधान सभा का कार्य करते समय एक ऐसा प्रसंग आया कि राजेन्द्र बाबू ने त्यागपत्र देना चाहा और वे गांधीजी के पास गए। गांधाजी ने उनसे कहा, "और कोई आदमी ऐसा करे तो मैं समझ सकता हूं, लेकिन तुम कर रहे हो यह उचित नहीं। सार्वजनिक कार्य में व्यक्तिगत अपमान अगर कोई माने तो वह एक दोष है।" राजेन्द्र बाबू ने इस्तीफा देने का विचार छोड़ दिया और इस प्रकार आगे के अपने सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन में अपनी निजता के भाव को फिर कभी पनपने भी नहीं दिया। किन्तु इस निजता के परित्याग का यह अर्थ कदापि नहीं कि वे अपनी निज की मान्यताओं और विश्वासों से भी विमुख हो गए थे। विपरीत इसके और पूरी निष्ठा एवं लगन से अपने विश्वासों और अनुभवों तथा मान्यताओं के आधार पर देश और सर्वसाधारण के लिए वे जो शुभ और कल्याणकारी समझते थे उसपर विना किसी प्रभाव, संकोच और विचारसंकीर्णता के अन्त तक अडिग बने रहते थे। उनके राष्ट्रपतित्व-काल में हमें ऐसे उदाहरण कम नहीं मिलते जब राजेन्द्र बाबू ने अपनी दृष्टि और विचार से बेमेल विधि और बातों को, भले ही वे उनके मंत्रिमंडल और उनके प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव से प्रेरित होतीं दृढ़तापूर्वक अस्वीकार न किया हो। 'हिन्दू कोड बिल' के सम्बन्ध में राजेन्द्र बाबू का यह स्पष्ट अभिमत कि मैं अपने राष्ट्रपति रहते इसपर कभी हस्ताक्षर नहीं करूंगा, जनसाधारण की जानकारी का विषय बना रहा है और अन्ततोगत्वा राजेन्द्र बाबू की इस दृढ़ता के परिणामस्वरूप पं० नेहरू को उसे

स्थगित ही करना पड़ा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर-हित के लिए जन्म लेने और पर-हित हेतु ही जन्म वारनेवाले—"तुलसी सन्त सुअंब तरु, फूलि फरहिं पर हेत।" की भांति उन्होंने मन, वचन और कर्म से अपने आपको भारतीय आत्मा के अर्पित कर दिया था। इस अर्पण-समर्पण में एक साधु के चरित्र की निस्पृहता और पवित्रता थी। रामायण में उल्लेख हुआ है—

"साधु ते होइ न कारज हानी।"

राजेन्द्र बाबू गोस्वामी तुलसीदासजी के इस कथन की कसौटी पर खरे उतरते थे। उनके शैक्षणिक जीवन के आरम्भिक दिनों से लेकर सार्वजनिक विशेषकर राष्ट्रपतित्व-काल में तथा उसके बाद उनके निर्वाण तक राजेन्द्र बाबू के चरित्र को देखा जाए, उनके सम्पर्क में आए साथियों, सहयोगियों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं, अनुयायियों और शासन-काल में उनके अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों से पूछा जाए कि क्या किसी भी समय, किसी भी कार्य या प्रसंगवश राजेन्द्र बाबू ने किसीको क्षति पहुंचाने की तो कहे कौन किसीके मन को दुखी किया है ? मैं अपने अटूट विश्वास और पूर्ण दावे के साथ कह सकता हूं कि सभीका एक उत्तर होगा और वह यही होगा— "साधु ते होइ न कारज हानी।" वे साधु थे, सन्तहृदय थे, अतः उनसे अनजान में भी कभी किसीका अहित और अमंगल नहीं हुआ।

संस्कृत में एक उक्ति है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।" जिस प्रकार के व्यवहार को तुम अपने प्रति किया जाना प्रतिकूल समझते हो, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति मत करो। यह आदर्श वचन राजेन्द्र बाबू के जीवन का मूल-मन्त्र था और यही था उनका जीवन-दर्शन भी।

सिंहावलोकन

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था—"व्यक्ति आते हैं, चले जाते हैं, पर राष्ट्र बना रहता है।" यह सत्य है, किन्तु राष्ट्र बना रहना मात्र काफी नहीं है। राष्ट्र की आत्मा, उसका गौरव, उसका स्वाभिमान, उसकी संस्कृति और उसकी राष्ट्रीयता यदि बनी रहे तो सचमुच ऐसा राष्ट्र, चाहे वह भारत हो अथवा विश्व का अन्य रास्ट्र, भाग्यशाली होता है। भारत को यह गौरव मिला कि इस देश की आत्मा को जाग्रत् और सशक्त बनाए रखने को जहां अतीत काल में राम, कृष्ण, महावीर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य आदि हुए तो आधुनिक काल में उसने गांधी को जन्म दिया। अतीत के उक्त अवतारों अथवा महापुरुषों की भांति गांधी ने भी अपने सहयोगियों और सहकर्मियों के साथ मातृभूमि को मुक्त किया।

युगपुरुष अपने समकालीन समाज की परिस्थिति के अनुसार अपने आदर्श और सिद्धांतों का निर्माण करते हैं। राम ने अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप जीवन में सत्य का, कृष्ण ने कर्म का तथा महावीर, बुद्ध एवं शंकराचार्य ने एक विशिष्ट दर्शन अहिंसा का आदर्श प्रतिपादित किया। गांधी ने अपने जीवन में इन सभीकी धारा प्रवाहित की। फिर किसी युगपुरुष के आदर्श और सिद्धांतों का निर्धारण उसके युग-विशेष के लिए न होकर युग-युगों के लिए होता है। गांधीजी ने भी अपने आदर्श और सिद्धांत निर्धारण में इसी भावना से काम लिया। भारत की स्वाधीनता उनके आदर्श अथवा सिद्धांत का गन्तव्य नहीं था, वह तो उनके निर्धारण का एक हेतुमात्र था। गन्तव्य तो बहुत दूर होता है जिसे आदर्श और सिद्धांतों का आविष्कर्ता भी क्वचित् बार ही देख पाता है। हां, अपनी मंज़िल के प्रारम्भ के कुछ पड़ाव तक पहुंचने में उसे अवश्य कामयाबी मिल जाती है और मिलनेवाली यह कामयाबी ही उसके आदर्श और सिद्धांतों की कसौटी बनती है। हम इतिहास पर नज़र डालें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी महापुरुषों के प्रयत्न और पुरुषार्थों की प्रथम सफलताएं, उनकी कार्य-परिणति अथवा उसके परिणाम, उनके आदर्श और सिद्धांतों के व्यावहारिक पक्ष के प्रथम पड़ाव-मात्र ही रहे हैं। उनकी वास्तविक

मंज़िल तो बाद में शुरू होती है जिसपर उनके अनुयायियों अथवा उन अगणित लोगों को चलना होता है जो उनमें आस्था और विश्वास रखते हैं।

महात्मा गांधी के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। उनके आदर्श और सिद्धांत के व्यावहारिक पक्ष का प्रथम पड़ाव उन्हें भारतीय स्वाधीनता के रूप में देखने को मिला। वे इस पड़ाव पर पहुंचे ही थे कि उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। अब उनके कार्य, उनके विचार, उनके आदर्श और सिद्धान्तों को मूर्त्तरूप देने का दायित्व उनके अनुयायियों पर पड़ा।

उपनिषद् में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि "चाहे कोई कितना ही बड़ा पंडित हो पर उसकी चतुराई उसके शिष्यों का कर्तृत्व देखकर ही जानी जा सकती है।" दूसरे शब्दों में, किसी भी युगपुरुष, नेता अथवा नायक के आदर्श, सिद्धान्त और विचारों की प्रामाणिकता तो उसके बाद उसके शिष्यों के आचरण और व्यवहार से सिद्ध होती है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी के बाद उनके जो सर्वमान्य उत्तराधिकारी थे उनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू और विनोबा भावे के नाम आते हैं। विनोबाजी का कार्य एक भिन्न क्षेत्र में, जिसे गांधीजी की रचनात्मक प्रवृत्तियां कह सकते हैं, उनके जीवन काल से ही चल रहा था। अब शेष उनके तीन अनुयायियों के रूप में पं० नेहरू, सरदार पटेल और राजेन्द्र बाबू हमारे सामने आते हैं। पंडित नेहरू गांधीजी के राज-नैतिक उत्तराधिकारी थे, उनके समग्र जीवन दर्शन के नहीं। सरदार पटेल गांधीजी के संगठन-चातुर्य के अनुयायी थे। राजेन्द्र बाबू मात्र अकेले ऐसे व्यक्ति थे जो राजनैतिक मंच पर काम करते हुए भी गांधीजी की सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों और उनके जीवन-दर्शन का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करते रहे। बापू के सत्य, अहिंसा और कर्मवाद का जैसा अभूतपूर्व सम्मिलन राजेन्द्र बाबू ने अपने व्यक्तित्व में किया था वैसा उनके किसी अन्य अनुयायी ने नहीं। राजेन्द्र बाबू के गांधीवादी व्यक्तित्व की प्रामा-णिकता पंडित नेहरू और स्वयं गांधीजी के इन शब्दों में हो जाती है। पंडितजी कहते हैं—"राजेन्द्र बाबू के अतिरिक्त ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं जिनके बारे में यह कहा जाता है कि गांधीजी के संदेश को उन्होंने पूर्ण रूप से अपनाया है।"

अब गांधीजी कहते हैं—"राजेन्द्र बाबू ने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया है कि मैं उनके बिना एक कदम भी आगे नहीं रख सकता। मेरे साथ काम करनेवालों में राजेन्द्र बाबू सबसे अच्छों में एक हैं। राजेन्द्र बाबू का त्याग हमारे देश के लिए गौरव की वस्तु है। नेतृत्व के लिए इन्हींके समान आचरण चाहिए। राजेन्द्र बाबू का जैसा विनम्रतापूर्ण व्यवहार और स्वभाव है वैसा कहीं भी किसी भी नेता का नहीं है।..."

इतना ही नहीं, बापू आगे कहते हैं,—"कम से कम राजेन्द्र बाबू एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें मैं ज़हर का प्याला दूं तो वह उसे निस्संकोच पी जाएंगे।"

पंडित नेहरू और महात्मा गांधी के उक्त कथन से राजेन्द्र बाबू के चरित्र पर पूरा प्रकाश पड़ जाता है। देश की स्वाधीनता के बाद जब एक ओर चतुर्दिक् राष्ट्र आंतरिक और बाहरी संकटों से घिरा था, ऐसे समय में नवजात स्वाधीनता की रक्षा और देश के बटवारे के परिणामस्वरूप उत्पन्न भीषण समस्याओं के समाधान का प्रश्न राष्ट्र के कर्णधारों के कंधों पर आया। तब राजेन्द्र बाबू ने पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और अपने अन्य सहकर्मियों के साथ जिस लगन, तत्परता और योग्यता से कार्य संचालन किया उसपर कोई इतिहासकार ही प्रकाश डालेगा। फिर सत्ता की परिभाषा में जो बातें आती हैं उनमें न केवल उसका सफल संचालन ही व्यक्ति की योग्यता की कसौटी बनता है वरन् सत्ता-संघर्ष का भी सामना करना पड़ता है। राजेन्द्र बाबू को सत्ता के लिए कभी संघर्ष नहीं करना पड़ा।

यही नहीं, निर्विवाद रूप से सत्ता का जो संघर्ष उनके कार्यकाल में नहीं हुआ उसका श्रेय बहुत दूर तक राजेन्द्र बाबू को ही है। अपनी योग्यता, नम्रता, सचाई, सरलता और निस्पृहता से उन्होंने अपने कार्य-काल में ऐसी मान्यताएं और स्थापनाएं कीं कि संघर्ष की स्थिति उनके निस्पृह और त्यागपूर्ण व्यक्तित्व के कारण बन ही नहीं पाती थी। गणतंत्र की स्थापना के बाद राष्ट्रीय एकता और विदेशों में उसकी प्रतिष्ठा तथा देश की शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से भारत राजेन्द्र बाबू के इन बारह वर्षों में एक नेतृत्व के अधीन जिस एकाग्रता से रहा उसे देखने पर

जहां हमें पंडित नेहरू की कार्यकुशलता और नेतृत्व-शक्ति का बोध होता है, वहीं राजेन्द्र बाबू के निस्पृह और तपःपूर्ण व्यक्तित्व के प्रभाव को भी स्वीकार करना पड़ता है।

किसी भी सरकार के सुशासन, सुव्यवस्था एवं एकता का मूल्यांकन तो उसके बाद वाले शासन के काल में ही हो सकता है। स्वाधीनता के बाद जिस एकता और मजबूती से स्वाधीनता के इन सत्रह-अठारह वर्षों में हमारी सरकार चली उसके मुकाबिले और देशों में विशेपकर पड़ोसी मुल्कों में जो सरकारें बदलीं उनके संदर्भ में भी सरकार की इस एकता का श्रेय, जैसाकि पंडित जवाहरलाल नेहरू के उस कथन के अनुसार जो हमने पुस्तक के राष्ट्रपति अध्याय में दिया है, राजेन्द्र बाबू को ही मिलता है।

महात्मा गांधी के कुशल नेतृत्व, संगठन-चातुर्य और योजना तथा सौजन्य, संयम और सभ्यता ने देश को ब्रिटिश साम्राज्य के शिकंजे से छुड़ाया और बाद में अपनी यह विरासत उन्होंने अपने जिन निकटतम अनुयायियों को सौंपी उनमें सर्वप्रधान पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ही थे। गांधीजी की यह विरासत तीन धाराओं के रूप में हमारे उक्त तीनों नेताओं के जीवनों में हमें देखने को मिलता है। नेतृत्व की विरासत तो स्वयं बापू ने अपने जीवन-काल में भी नेहरूजी को सौंप दी थी, संगठन-चातुर्य और योजना की सरदार पटेल ने सम्भाली और सौजन्य, संयम, सभ्यता एवं सहिष्णुता की राजेन्द्र बाबू ने अपने आचरण में उतार ली। इस प्रकार राष्ट्र के इन कर्णधारों ने राष्ट्र-नौका को आगे बढ़ाया। प्रश्न उठता है, यदि राजेन्द्र बाबू नवजात स्वाधीनता के दिनों में सौजन्य, संयम, सभ्यता एवं सहिष्णुता के इन संस्करणों से प्रेरित न होते तो क्या स्थिति होती? कल्पना की जा सकती है। संगठन के स्थान पर विघटन, सहयोग की जगह असहयोग और शांति की जगह संघर्ष अवश्यम्भावी था। किन्तु राजेन्द्र बाबू तो ऐसे चरित्रनायक थे जिनके आदर्श भरत थे।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने चरित्रनायक भरत के सम्बन्ध में कहा है—

"जो न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को।।"

यदि राजेन्द्र बाबू के सदृश गांधीजी के आदर्शों का निष्ठावान चरित्रनायक इस युग में न होता तो कहन कठिन है संयम, शील, सदाचार और सज्जनता की यह धुरी जो गांधी-युग की सर्वप्रधान देन थी, कौन धारण करता।

इस प्रकार भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम, स्वाधीनता की प्राप्ति, गणराज्य की स्थापना और उसके बाद के बारह वर्षों के अपने राष्ट्रपतित्व-काल में राजेन्द्र बाबू ने अपने जिन भाव-विचार, आदर्श और सिद्धान्तों को अपने व्यवहार और आचरण में मूर्तरूप दिया उसके द्वारा उन्होंने न केवल इस काल के भारतीय शासन को सुयोग्यता एवं सुदक्षता प्रदान की वरन् भारत की पुरातन सभ्यता, संस्कृति, और उसकी सनातन मान्यताओं की परिपुष्टि के साथ राष्ट्र के जनजीवन में अपने चरित्र-बल से उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भी की है। वे अपने काल में भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, भारतीय नागरिक और भारतीय चरित्र के प्रतीक बने हुए थे। विचारस्वरूप और आदर्श सभी दृष्टियों से उनमें भारतीयता की स्पष्ट प्रतिच्छवि देखी जा सकती थी। उन्होंने अपने कार्य-काल में ऐसी परम्पराओं और मान्यताओं की स्थापना की है जिनसे न केवल शासन-सूत्र को ही वरन् भारत के प्रत्येक जन को युग-युगों तक बल, प्रेरणा और प्रकाश मिलता रहेगा। उनका त्याग, उनकी कर्मठता, उनकी सेवा-भावना, व्यक्तित्व की भव्यता, विचारों की शालीनता, और अधिकारों के प्रति निस्पृहता सभी आगे आने-वाली अनेक पीढ़ियों तक आलोक की रश्मियां बिखेरती रहेंगी।

महाप्रयाण

"धरा को प्रमान यही तुलसी जो फरा सो झरा,
जो बरा सो बुताना।"

इस पृथ्वी पर जो आएगा वह जाएगा, यह एक नैतिक नियम और निर्णायक सत्य है। प्रकृति सतत् परिवर्तनशीला है। धरा, गगन, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे सभी चलायमान रहते हैं। छोटे-बड़े नद-नाले और सरिताएं प्रवाहित होती हैं। समुद्र उमड़ते, लहराते और आन्दोलित होते हैं। घन-घटाएं घिरती-उमड़तीं, ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त और वसन्त सभी ऋतुएं आती और जाती हैं। चिर-स्थिर कहीं कुछ दिखाई नहीं देता। हां, हर वस्तु का, हर वात का एक समय होता है; वह समय ही समाज के हित-अहित, कल्याण-अकल्याण का साधन वन जाता है। लाभ और हानि की, हित और अहित की, कल्याण और अकल्याण की दृष्टि से जो भावना किसी वस्तु या पदार्थ-विशेष के साथ जुड़ी होती है वही व्यक्ति विशेष के साथ भी। यों तो इस जड़-जंगम सृष्टि में कुछ भी निरर्थक नहीं है। जहां एक छोटे-से तिनके और अणु-परमाणु रजकण का भी समाज-हित में उपयोग और महत्त्व है वहां मानव तो एक सर्वोपरि सत्ता और विधायक रूप में हमारे सामने आता है। फिर हित-उपयोग की दृष्टि से मानव ही वह सर्वोपरि साधन है जो सृष्टि के समस्त साधनों का सृजेता, संरक्षक और स्वामी है। जिस प्रकार नेत्रहीन अथवा विवेकहीन व्यक्ति के विना सुन्दर व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार व्यक्तिहीन समाज अथवा सृष्टि के स्वरूप की कल्पना ही दुरूह है। अतः व्यक्ति की गरिमा, उसका महत्त्व महात्म्य अपरिहार्य है। किन्तु इस गरिमा और महत्त्व-माहात्म्य से युक्त होना ही हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है, वरन् श्रेयस्कर है इससे परिचित होना। इस अनन्त और अगणित-रूपा सृष्टि में पल-पल जन्म लेनेवाले और मृत्यु को प्राप्त होनेवाले मानवों में ऐसे कितने होते हैं जो मानव-जीवन के इस गुण-धर्म से परिचित रहते हैं कहना कठिन है, किन्तु निर्विवाद रूप से जो इस जीवन-सत्य से परिचित हो जाते हैं वे तो धन्य होते ही, उनके कारण वह धरा, उस धरा की सीमाएं, उसका

गगन, पवन, पावक और वरुण तक धन्य और पावन बन जाते हैं।

देशरत्न डा॰ राजेन्द्रप्रसाद ऐसे ही तपोपूत ज्योतिर्मय पुरुष थे। उन्होंने अपनी तपश्चर्या और पूततम दिनचर्या से भारत राष्ट्र की चतुर्दिक् सीमाओं से लेकर उसकी समग्र आत्मा को न केवल सदा अक्षय और आलोकित रखा वरन् उसमें नवजागरण और नवजीवन के संदेशवाहक सूर्योदय का नित नव नूतन प्रकाश भरा। जीवन-भर एक ऐसे प्रकाश-पुंज के रूप में, जिसकी किरणें मात्र अन्धेरे में ही नहीं वरन् स्पष्ट रूप से उजेले में भी लोगों को रोशनी दें, वे आलोकित रहे। उनका यह प्रकाश ऊंचे-ऊंचे महलों से लेकर नीचे बसनेवाले निर्धन नर-कंकालों की झोंपड़ियों तक एक-सा पहुंचा, बिना किसी भेदभाव और विघ्न-बाधा के।

राजेन्द्र बाबू का समग्र जीवन, जीवन के इस प्राणतत्त्व का जिससे जगती का निकट का सम्बन्ध होता है, जाज्वल्यमान प्रमाण रहा है। वे उन अगणितों में एक थे जिनका जीवन अपने और अपने परिवार से परे समग्र राष्ट्र के जीवन की धरोहर होता है। अपने सुख-साधन और सम्पन्नता बढ़ानेवाले उन असंख्य लोगों में राजेन्द्र बाबू एक और प्रथम थे जिनका सुख-साधन और सम्पन्नता समग्र राष्ट्र और मानव-जाति की सुख-साधना और सम्पन्नता बढ़ने में होती है।

दिनांक २८ फरवरी, १९६३ को सदाकत आश्रम में स्वाधीनता के इस साधक ने, भारत के इस संत ने जैसे समाधि ले ली। सारा राष्ट्र स्वतन्त्रता के इस अमर सेनानी की, स्वाधीनता के सजग साधक की, और उसके संरक्षक, सृजेता और विधायक की समाधि पर, चिरनिद्रा पर स्तब्ध रह गया। शोकाकुल राष्ट्र ने श्रद्धावनत सजल नेत्रों से सदाकत के इस संत को जो श्रद्धांजलि अर्पित की उसे देख कविवर चकबस्त की ये पंक्तियां याद आ गईं—

"एक वे हैं कि जिन्हें भाई-बहन रोते हैं।
मौत तेरी है, तुझे अहले-वतन रोते हैं।"

राजेन्द्र बाबू सांस्कृतिक पुरुष थे। हमारी संस्कृति में वर्णाश्रम का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चारों आश्रम और अवस्थाएं भारतीय संस्कृति में विशेष महत्त्व रखती हैं। राजेन्द्र बाबू का

विवाह यद्यपि बाल्यकाल में ही हो गया था किन्तु वह एक पवित्र बन्धन के अतिरिक्त पति-पत्नी के सम्बन्धों की दृष्टि से बिलकुल अछूता रहा। पर्दा और कड़े पारिवारिक नियम-बन्धनों एवं विद्या अध्ययन के लिए पटना और बाद में कलकत्ता रहने के कारण बहुत वर्षों तक राजेन्द्र बाबू का पत्नी के साथ सहजीवन नहीं हुआ। अतः वर्णाश्रम धर्म की प्रथम अवस्था ब्रह्मचर्य आश्रम में वे पूर्णतया प्रवृत्त रहे। इसके बाद वे गृहस्थ बने। सन्तानोत्पत्ति जो गृहस्थ धर्म का लक्ष्य माना गया है उसका भी पूर्णतया निर्वाह कर वे सार्वजनिक जीवन में प्रवेश के साथ ही वानप्रस्थी हो गए और जीवन की अन्तिम अवस्था संन्यास आश्रम तो जैसे उनका सहज और जीवन-गुणधर्म ही था। वे अपनी पत्नी और परिवार से सदा विरत, समग्र राष्ट्र को ही अपना परिवार मान एक सन्त के समान सभीमें और सभी-से निर्लिप्त ही रहे। इस प्रकार अखण्ड जीवन की पूर्ण पवित्रता और दायित्व-निर्वाह के बाद जब वे जीवन मुक्त हुए तो उन्हें हमारी संस्कृति का वह निर्माण प्राप्त हुआ जिसे सुगति और मुक्ति कहा गया है। राजेन्द्र बाबू लगभग अस्सी के पहुंच रहे थे। इस अवस्था तक पुत्र-कलत्र, पत्नी और पारिवारिकों से घिरे, सभी सिद्धियों उपलब्धियों से भरेपूरे जब राजेंद्र बाबू के निर्वाण का समय आया तो कुछ महीने पूर्व ही सर्वप्रथम अपनी उपस्थिति में अपने ही सामने पुत्र, पौत्र और पारिवारिकों के सम्मुख अपनी पत्नी को विदा दी। पत्नी के निधन के बाद भी वे एक कर्मशील योगी की भांति देशसेवा के अपने पावनव्रत में तल्लीन रहे और जब राजेन्द्र बाबू के देहावसान का समय आया तो वे एक सार्वजनिक सभा में भाषण करने जा रहे थे। अन्तिम समय आ पहुंचा और उनके वे पग जो सार्वजनिक सेवा के लिए बढ़ रहे थे रुक गए, एकाएक वे कुछ अस्वस्थ हुए और उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। आयोजन में वे न जा सके पर उनका वह भाषण जो उन्होंने उस सभा के लिए लिख रक्खा था सन्देश रूप में उस आयोजन में पढ़ा गया। इस प्रकार भौतिक रूप से अनिवार्यतः नष्ट होनेवाला उनका शरीर तो पंचमहाभूतों में विलीन हो गया, पर उस महाप्राण ने जो सन्देश दिया वह चतुर्दिक् भारत के जनमानस में व्याप्त हो गया। इस प्रकार जीवन की जो पवित्रता जीवन में नहीं अन्त में देखने का सन्देश हमारी

सनातन संस्कृति देती है उसके प्राणवन्त प्रमाण बन राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवन की पवित्रता को प्रमाणित कर हमारे इस सांस्कृतिक विश्वास की भी पुष्टि और प्राण-प्रतिष्ठा कर दी।

० ० ०

परिशिष्ट--१

महापुरुषों की दृष्टि में

(१) राजेन्द्र बाबू एक महान् और दिव्यात्मा पुरुष थे। राष्ट्र उनके त्यागमय जीवन को सदा याद रखेगा। उनका जीवन सदा हमारा मार्ग दर्शन करता रहेगा। उनपर जनक, बुद्ध और गांधी की छाप थी।

—सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन्

(२) उनके प्रति मेरे दिल में जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गांठ बंधी वह अब तक बनी हुई है। राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है।

—सरदार वल्लभभाई पटेल

(३) डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में अपने उच्चपद का महान दायित्व बड़ी योग्यतापूर्वक निबाहा और उन्हें भारत की जनता का अनन्त प्रेम प्राप्त रहा। सन् १९६१ में मैं कुछ दिन अपने पति सहित उनकी अतिथि रही थी। इस समय मुझे उनका हार्दिक आतिथ्य स्मरण हो रहा है।

—रानी एलिजाबेथ

(४) डा० राजेन्द्रप्रसाद ने एकनिष्ठ भाव से भारत की बड़ी सेवाएं कीं। वह सदा याद रहेंगी। मैं जब अपनी पत्नी सहित भारत में था, उन दिनों की उनकी हार्दिकता मुझे याद आती है।

—हेरल्ड मैकमिलन

(५) डा० राजेन्द्रप्रसाद बेर, बादाम और अंगूर में से अंगूरों के बने हैं। न वह बेर की तरह ऊपर से मृदु और अन्दर से कठोर हैं, न बादाम की तरह ऊपर से कठोर, अन्दर से मृदु हैं, वह तो भीतर-बाहर दोनों ही ओर मृदु हैं—अंगूर की भांति मीठे और रसपूर्ण।

—लार्ड लिनलिथगो

(६) राजेन्द्र बाबू इस युग की बहुत मजबूत कड़ी थे। उनकी मुद्रा और आंखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनसे सचाई झलकती थी। उनकी काबलियत, उनके दिल की सफाई और अपने मुल्क के लिए उनकी मुहब्बत ने उनके लिए हर भारतवासी के दिल में गहरी जगह पैदा कर दी।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

(७) जो ऋषि होते हैं वे मुख्यतः उष्णता देते हैं। राजेन्द्र बाबू प्रधानतः हमारे पारिवारिक प्रेम के पितृ-समान थे। इसलिए उन्होंने हमें अग्नि समान उष्णता दी है। हम समझते हैं उनके गुणों का संग्रह करेंगे और उनके स्मरण से हमारे दोषों को जलाएंगे और उन्होंने जो काम किया है उसको आगे बढ़ाएंगे।

—विनोबा

(८) राजेन्द्र बाबू ने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि मैं उनके बिना एक कदम भी आगे नहीं रख सकता था।

—मो० क० गांधी
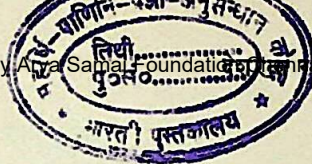
परिशिष्ट--२

जीवन की स्मरणीय तिथियां

३ दिसम्बर,	१८८४	जन्म
जून,	१८९६	विवाह
मार्च,	१९०२	कलकत्ता विश्वविद्यालय से मैट्रिक हुए।
मार्च,	१९०६	कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक हुए।
		बिहार छात्र सम्मेलन आयोजित किया।
दिसम्बर,	१९०७	कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० हुए।
जुलाई,	१९०८	भूमिहार ब्राह्मण कालेज, मुज़फ्फरपुर कालेज (बिहार) में प्राध्यापक नियुक्त हुए।
जनवरी,	१९०९	उक्त कालेज में प्रिन्सिपल बने।
मार्च,	१९०९	कानून के अध्ययन के लिए पुन: कलकत्ता गए।
जुलाई,	१९०९	कलकत्ता सिटी कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त।
	१९१०	कानून में डिग्री प्राप्त की।
	१९११	कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रैक्टिस शुरू की।
	१९१२	हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन में स्वागत-समिति के सचिव बने।

१९१३	बिहार छात्र सम्मेलन (मुंगेर) के अध्यक्ष बने।
१९१४-१५	कलकत्ता कालेज के प्रोफेसर बने।
१९१६	पटना हाईकोर्ट स्थापित होने पर पटना में प्रेक्टिस शुरू की।
१९१७-१८	महात्मा गांधी के साथ चंपारन गए।
१९१८	बिहार का प्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक 'सर्चलाइट' प्रकाशित किया।
१९२०	हिन्दी साप्ताहिक 'देश' का प्रकाशन किया।
१९२१	असहयोग आंदोलन में शामिल हुए और प्रैक्टिस छोड़ दी।
१९२१	बिहार विद्यापीठ स्थापित किया।
१९२२	गया कांग्रेस अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष बने।
१९२३	गंगा-बाढ़पीड़ितों में सहायता-कार्य किया।
१९२३-२७	बिहार विद्यापीठ के कुलपति रहे। रचनात्मक कार्य किया और देशव्यापी दौरा किया।
१९२४	अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कोकोनाडा अधिवेशन के अध्यक्ष बने।
१९२४	पटना नगरपालिका के अध्यक्ष बने।

	१९२६	बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दरभंगा के अध्यक्ष बने।
	१९२७	संयुक्त प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कांगड़ी अधिवेशन) के अध्यक्ष बने।
	१९२७	श्री लंका की यात्रा की।
	१९२८	इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों की यात्रा की। युद्ध-विरोधी सभाओं में शामिल हुए और शांति आन्दोलन का नेतृत्व किया।
६ जुलाई,	१९३०	सत्याग्रह आन्दोलन में गिरफ्तार किए गए।
४ जनवरी,	१९३२	पुनः सदाकत आश्रम में गिरफ्तार हुए।
७ जनवरी,	१९३२	कांग्रेस के डिक्टेटर के रूप में फिर गिरफ्तार हुए।
१७ जनवरी,	१९३४	जेल से रिहा हुए और बिहार भूकम्पपीड़ितों की सहायता का संगठन किया।
३ अक्टूबर,	१९३४	बम्बई में कांग्रेस के अखिल भारतीय अधिवेशन के अध्यक्ष बने। देशव्यापी दौरे किए और हर ताल्लुके तथा ज़िला कार्यालय में गए।
	१९३५	क्वेटा भूकम्प सहायता सोसायटी के अध्यक्ष बने।

	१६३६	अ० भा० कांग्रेस संसदीय दल के महामन्त्री बने।
	१६३६	अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अध्यक्ष।
१४ दिसम्बर,	१६३७	इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने डाक्टर आव् ला की सम्मानित डिग्री प्रदान की।
मई,	१६३८	रामगढ़ कांग्रेस स्वागत समिति के अध्यक्ष बने।
	१६३६	सुभाषचन्द्र बोस के त्यागपत्र के बाद कांग्रेस अध्यक्ष बने।
६ अगस्त,	१६४२	भारत सुरक्षा नियमों में गिरफ्तार किए गए और बांकीपुर पटना जेल में १५ जून, १६४५ तक नज़रबन्द रहे।
२५ जून से १४ जुलाई,	१६४५	शिमला कान्फ्रेंस में भाग लिया।
२ दिसम्बर,	१६४६	अन्तरिम सरकार में खाद्य एवं कृषि मन्त्री बने।
११ दिसम्बर, १६४६ से	१६४६	भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष।
१७ नवम्बर,	१६४७	आचार्य कृपलानी के त्यागपत्र देने पर कांग्रेस अध्यक्ष का कार्यभार सम्भाला।
२० दिसम्बर,	१६४७	पटना विश्वविद्यालय से डाक्टर आव् लिट्रेचर की सम्मानित उपाधि प्राप्त की।

१९४८	गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष।
१६ जनवरी, १९५०	सागर विश्वविद्यालय ने डाक्टर आव् लाज़ की उपाधि प्रदान की।
२६ जनवरी, १९५० से १३ मई, १९५२	भारतीय गणराज्य के अंतरिम राष्ट्रपति।
२८ फरवरी, १९५०	काशी विश्वविद्यालय की विद्वत परिषद् ने विद्या-वाचस्पति की उपाधि प्रदान की।
१० अप्रैल, १९५१	मैसूर विश्वविद्यालय ने डाक्टर आव् लाज़ की उपाधि प्रदान की।
१३ मई, १९५२ से १२ मई, १९५७	भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति हुए।
अक्टूबर, १९५६	नेपाल यात्रा की।
१३ मई, १९५७	पुनः भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।
२५ सितम्बर, १९५८	जापान यात्रा पर रवाना।
३० सितम्बर, १९५८	जापान में एक विश्वविद्यालय ने बौद्ध विद्या की उपाधि प्रदान की।
६ दिसम्बर, १९५८	मलाया की यात्रा की।
८ दिसम्बर, १९५८	इण्डोनेशिया की यात्रा की।
१५ मार्च, १९५९	हिन्द-चीन, कम्बोडिया, दक्षिण वियतनाम, उत्तरी वियतनाम और लाओस की यात्रा की।

जून, १९५९	श्रीलंका की यात्रा की।
१७ जून, १९५९	कोलम्बो (श्रीलंका) की विद्यालंकार युनिवर्सिटी का उद्घाटन किया।
२५ जनवरी, १९६०	बड़ी बहन श्रीमती भागवती-देवी का देहान्त।
२४ अक्टूबर, १९६०	प्रयाग में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया।
अक्टूबर, १९६०	बद्रीनाथ की यात्रा।
२० जून, १९६०	रूस यात्रा।
१९ जुलाई, १९६१	गम्भीर रुग्णता के कारण ५ मास तक विश्राम।
२० दिसम्बर, १९६१	कार्यभार सम्भाला।
८ मई, १९६२	संसद में अंतिम विदाई भाषण।
१०, मई, १९६२	रामलीला ग्राउण्ड में दिल्ली के नागरिकों की ओर से विदाई।
१३ मई, १९६२	भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति पद से अवकाश ग्रहण किया।
१३ मई, १९६२	नवनिर्वाचित राष्ट्रपति द्वारा 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित और दिल्ली से पटना को प्रस्थान।
१४ मई, १९६२	सदाकत आश्रम, पटना में आगमन और प्रवास।
जून, १९६२	दिल्ली में अंतर्राष्ट्रीय अणुयुद्ध विरोधी सम्मेलन में भाषण।

९ सितम्बर, १९६२	धर्मपत्नी श्रीमती राजवंशी-देवी का देहान्त।
अक्टूबर, १९६२	चीनी आक्रमण विरोधी सभाओं में भाषण और राष्ट्रीय रक्षा कोष के लिए धन-संग्रह।
२८ फरवरी, १९६३	सदाकात आश्रम, पटना में स्वर्गवास।

०००

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, दरियागंज, दिल्ली-६